द्वितीय अध्याय

2.1 लोक की अवधारणा

'लोक' एकाधिक अर्थों और अनेक रूपों में परिव्याप्त है। यह संसार, स्थान विशेष, प्रदेश, जनसाधारण, समाज आदि अर्थों की प्रतीति कराता है परंतु 'लोक' शब्द विशेष रूप से दो अर्थों में अधिक प्रचलित है- पहला, वेदों, पुराणों और उपनिषदों में उल्लिखित इहलोक, परलोक, पृथ्वी लोक, स्वर्ग लोक, नरक लोक आदि के संदर्भ में और दूसरा, साहित्यिक शब्दावली में 'लोक' आम जनमानस के लिए प्रयुक्त होता है। दरअसल, किसी भी स्थान विशेष अथवा समाज विशेष के अंतर्गत आने वाले वे सभी मनुष्य 'लोक' शब्द की परिधि में समाहित होते हैं जो अपनी अधुनातन स्थिति में भी पारंपरिक नीतियों का अनुसरण करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो एक बात ध्यान देने योग्य है कि लोक स्थान और समाज के अनुकूल अलग-अलग होते हैं। इसी कारण लोक की व्यष्टिगत, समष्टिगत व सांस्कृतिक चिंता और चेतना भी भिन्न-भिन्न होती है। 'लोक' अंग्रेजी शब्द 'FOLK' के पर्याय के रूप में रूढ़ हो गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति मूलतः एक एंग्लो-सेक्शन शब्द 'FOLC' से हुई है। जर्मनी में 'volk' तथा हिंदी में इसी शब्द के लिए लोक, लोग, जन तथा संकुचित अर्थ में ग्राम शब्द प्रचलित है। ध्यातव्य है कि अंग्रेजी शब्द 'फोक' किसी असंस्कृत और अशिक्षित जाति व समाज को इंगित करता है। लेकिन विस्तृत अर्थ में लोक कहने से किसी भी सुसंस्कृत राष्ट्र के सर्वसाधारण लोगों का बोध होता है। अब हिंदी में प्रयुक्त लोक शब्द की व्युत्पत्ति पर गौर करें तो संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय को जोड़कर इसकी निष्पत्ति हुई है। 'लोक' का शाब्दिक अर्थ है: देखने वाला। अर्थात् वह पूरा जनसमुदाय जो समस्त संसार को देखता अथवा अवलोकन करता है उसे 'लोक' कहा जाता है।

'लोक' शब्द अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद में लोक शब्द का प्राणी तथा स्थान विशेष के संदर्भ में उल्लेख किया गया है परंतु आगे चलकर लोक शब्द की व्यापकता और अधिक विस्तृत हो जाती है। इसके अर्थ-संसार में प्रत्येक वस्तु व्याप्त है। भारतीय विद्वानों ने लोक की अर्थसत्ता का भिन्न रूपों में व्यवहार किया है। पाणिनि के ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में लोक शब्द का प्रयोग लौकिक के संबंध में हुआ है। इसी तरह पतंजलि के महाभाष्य, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, भगवतगीता आदि में भी लोक शब्द भिन्न अर्थों का द्योतक है। प्राचीन ग्रंथ महाभारत में लोक शब्द का व्यवहार आम जन के संदर्भ में कुछ इस प्रकार मिलता है

"अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानांजन शलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम्"[1]

उद्धृत पद में 'महाभारत' की प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए यह कहा गया है कि यह ग्रंथ अज्ञानता के तिमिर से अंधे और दुःखी लोक अर्थात् आम जनमानस के नेत्रों को ज्ञान रूपी अंजन (काजल) से खोल देता है। इसी प्रकार हिंदी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'चिंतामणि' के प्रथम भाग में लोक सामान्य, लोक-सत्ता, लोक-मंगल, लोक-धर्म, लोक-व्यवहार जैसे शब्दों का समाज और संस्कृति के संदर्भ में यथास्थान प्रयोग करते हैं। परंतु कुछ वरेण्य विद्वान लोक शब्द के पर्याय के रूप में अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने 'फोक' के लिए 'ग्राम' शब्द को स्वीकार किया है। परंतु डॉ० मोतीचंद 'जन' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः ग्राम अथवा जन शब्द अर्थ की दृष्टि से उतने व्यापक संदर्भों में लोक शब्द को व्याख्यायित नहीं कर सकता है। कारण कि ग्राम कहने से केवल ग्रामीण व बीहड़ क्षेत्रों के निवासियों का बोध होता है जबकि लोक शब्द की जड़ें निःसंदेह रूप से ग्रामीण अंचलों से जुड़ी हैं परंतु इसकी शाखाएँ अन्य क्षेत्रों में भी व्याप्त हैं। इसी तरह 'जन' शब्द साधारण अर्थों में औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों को दर्शाता है। इसीलिए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लोक शब्द के अर्थ के रूप में ग्राम्य अथवा जन शब्द को नकारते हुए कहते हैं- "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उन्हें उत्पन्न करते हैं।"[2] अर्थात् लोक नगरों में वास करता है, नगर बसाता भी है लेकिन वह सुविधाभोगी नहीं है। हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक को समाज के हाशिये के वर्ग के साथ जोड़ते हैं।

लोक साहित्य का गहन अध्ययन करने वाले सभी विद्वान अपनी दृष्टि से लोक को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। लोक की अवधारणा को स्पष्टतः समझने के लिए इन अध्येताओं द्वारा दी गयी परिभाषाओं को जानना अत्यावश्यक है। इनमें पाश्चात्य विद्वान प्रो० एलेन डंडेस का यह मानना है कि "लोक लोगों का समुदाय है जो समान संबद्धकारी तत्वों से जुड़ा है। ये समान संबद्धकारी तत्व कुछ हैं- समान भाषा, समान पेशा तथा समान धर्म कुछ भी हो सकता है। वस्तुतः 'लोक' एक लचीली अवधारणा है जो एक राष्ट्र की तरह बड़ा हो सकता है तथा एक परिवार की तरह छोटा।"[3] इसी क्रम में डॉ० सत्येंद्र लोक को तथाकथित आधुनिकता, शास्त्रीय ज्ञानादि की सीमा से परे रखकर मानव की सहज निश्छल प्रवृति और परंपराओं से जोड़ते हुए कहते हैं

कि "'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[4] डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भी सत्येंद्र के मत को स्वीकारते हुए कहते हैं कि "जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन परिस्थिति में वर्तमान हैं उन्हें ही लोक कहा जाता है।"[5] लोक को मानव जीवन-निर्माण का साध्य एवं समस्त जीवन का सार मानते हुए डॉ० वसुदेवशरण अग्रवाल यह मत प्रस्तुत करते हैं कि "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कुत्सित ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यावसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लो की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी, और लोक व्यक्त रूप मानव – यही हमारे नये जीवन का आध्यात्म-शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक, पृथ्वी, मानव- इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[6] श्याम परमार अपनी पुस्तक 'भारतीय लोक-साहित्य' में लोक को केवल जीवन के कल्याण व विकास के साध्य तक सीमित नहीं रखते। अपितु संपूर्ण मानव सभ्यता और समाज के साथ जोड़कर समधर्म भाव के संवहन को दर्शाते हैं- "लोक साधारण जन-समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परंपराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है।"[7]

वास्तव में लोक कहने से सहज अर्थ में यह समझना चाहिए कि लोक ऐसा जनसमूह है जो प्रकृति के सबसे निकट है, प्रकृति प्रेमी और उसका संरक्षक है। तमाम तरह के छल-छद्म, अहंकार, बैर आदि से शून्य लोक सर्वधर्म हित अर्थात् जनकल्याण की भावना का पोषण करता है। इसी कारण लोक 'सर्वे भवंतु सुखिनः' भाव से संपृक्त है। लोक की आधारभूमि मानवतावादी भावों तथा विचारों से निर्मित है। वस्तुतः लोक में ऐसे सामान्यजन समाहित होते हैं जो मूलतः अपनी ज़मीनी धरातल की सौंधी खुशबू को संजोये होते हैं। जल, जंगल और जमीन के समकक्ष किसी संरक्षक की भाँति पूरी आत्मीयता और तन्मयता से स्वयं को उपस्थित करते हैं। अपने वर्तमान में भी परंपरागत रीतियों का अनुसरण कर सच्चे अर्थों में संस्कृति के वाहक होते हैं। आमतौर पर लोक अथवा लोक-सृजित साहित्य, संस्कृति से ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन तथा उसकी संस्कृति और साहित्य का बोध होता है। परंतु एक बात यहाँ विचारणीय है कि ग्रामीण क्षेत्र भी शहरी संस्कृति के चपेट में आ चुका है तथा शहरों में भी कुछ लोग ग्लोबल संस्कृति के प्रभाव से रहित हैं। ऐसे में ग्रामीण अंचलों के निवासियों को ही लोक की संज्ञा देना कितना सार्थक होगा? इस संदर्भ में हमें यह समझना होगा कि लोक मूलतः ग्रामीण क्षेत्रों में तो है

लेकिन इसका अंश शहरों में भी है। अतः लोक की अवधारणा को ग्रामीण अथवा शहर की भौगोलिक सीमा से पृथक करके उसकी अपूर्वता तथा विलक्षणता के आधार पर व्याख्यायित करना होगा। कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि लोक तथाकथित आधुनिकता से परे है। लोक की मौलिकता ही उसकी पहचान है। लोक प्रमुखतः ग्लोबल सभ्यता और संस्कृति के स्पर्श से दूर अनगढ़, स्वतः स्फूर्त, सक्रिय और सचेत है। समान्य न होकर अपने में विशिष्ट है। रूढ़ न होकर गतिशील तथा मर्मस्पर्शी है।

लोक की प्रकृति बहुआयामी है। यह सदैव बहुजन हिताय को प्रधानता देती है। लोक की अभिव्यक्ति प्रत्येक समाज के अनुरूप पृथक् हो सकती है। लेकिन इसकी आंतरिक संरचना में निहित मूल संवेदना एक जैसी होती है। इसका स्वरूप किसी भाषा की वाक्य-संरचना की भाँति होता है जिसमें भावाभिव्यक्ति हेतु भले ही तरह-तरह के शब्दों का प्रयोग किया गया हो परंतु उसकी आंतरिक संरचना कर्ता, कर्म और क्रिया के नियत क्रमवार रूप से संचालित होती है। कुलमिलाकर लोक की आंतरिक संरचना का आधार प्रेम, संवेदना, सहानुभूति, भाईचारा, उदारता, करुणा और सहिष्णुता है। इसी कारण लोक अथवा लोक-सृजित साहित्य में मानवतावादी भावों और विचारों का उत्कर्ष होता है। लोक भिन्न स्रोतों से प्राप्त अनुभवों को सहज अभिव्यक्ति देकर भोगे हुए यथार्थ को चित्रित करता है। लेकिन जहाँ कहीं लोक यथार्थ से अलग हटकर कल्पना की उड़ान भरता है उसमें अतिरंजकता नहीं होती है। वह अपनी विवेकशीलता के आधार पर देशज बिंबों के प्रयोग से बिल्कुल जीवंत अभिव्यक्ति करता है। ऐसे में डॉ० राधेश्याम अग्रवाल की उक्ति बिल्कुल सार्थक सिद्ध होती है कि "लोक का उत्स सहज प्राकृतिक रूप ग्रहण किये हुए होता है। लोक रचनाकार लोक के उद्दाम वेग को ज्यों की त्यों आत्मसात करके शालीनता की परिधि को स्वीकार न करता हुआ सहज रूप में अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है। यह सहजता ही लोक रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है।"[8]

लोक के साहित्य में मानव तथा मानवेतर प्राणियों, पेड़-पौधों आदि के प्रति प्रेम और सहानुभूति की अनुगूंज मौजूद होती है। विशेषकर लोकगीतों में पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों के प्रति न केवल प्रेम और संवेदना व्यक्त की जाती है बल्कि उनके माध्यम से मानव जीवन के हर्ष-विषाद, प्रेम-विरह आदि भावों की भी अभिव्यंजना होती है। प्रकृति के परिवर्तन के अनुरूप मानव मन में हो रहे परिवर्तनों का आभास हमें लोकगीतों में मिलता है जो सीधे तौर पर प्रकृति के निकष पर मानव जीवन को लाकर उपस्थित करती है। अक्सर लोक में समाज-कल्याण हेतु भी तत्परता दिखाई देती है जो वस्तुतः लोक के विस्तृत क्षेत्र का परिचायक है। परंपरागत रूप से समाज में आयोजित विभिन्न मांगलिक अनुष्ठानों के पीछे परहित की कामना निहित होती है। ऐसे

अवसरों पर गाये जाने वाले दैवीय गीतों में लोक व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर समाज के कल्याण तथा खुशहाली और संपन्नता की कामना करता है। परंतु तथाकथित सभ्य समाज के कुछ बुद्धिजीवी लोग लोक को अपरिष्कृत, असंस्कृत, गँवारू, गँवई तथा भदेस मानते हैं जबकि भारतीय संस्कृति की मूल जड़ें लोक में ही संरक्षित हैं। 'लोक' के बहुचर्चित विद्वान विद्यानिवास मिश्र अपने लेख 'लोक काव्य का मर्म' में इस बात को बड़ी साफगोई से रेखांकित करते हैं कि "लोककाव्य कोई अलंकरण नहीं है, ना फैशन है, वह भारतीय संस्कृति का मर्मस्थल है।"[9] लोक अपनी मौलिकता, विलक्षणता को आचार-व्यवहार, रीति-रिवाजों और परंपराओं के माध्यम से अनुरक्षित करता है। लोक में व्याप्त स्थानीयता, उसका देशज व छद्म रहित रूप ही इसकी प्रमुख विशिष्टता है। इसीलिए इसके बहुआयामी सांस्कृतिक संदर्भों का सर्वांगीण बोध हुए बिना इसकी विलक्षणता को अपरिष्कृत कहना अनुचित है।

लोक अद्यतन स्थिति में भी अधुनातन है। प्राचीन समय में जड़ी-बूटी से की गयी लोक चिकित्सा आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में तब्दील हो गयी। और, आज की एलोपैथी चिकित्सा पद्धति जिसमें तमाम तरह के रसायनों का प्रयोग किया जाता है। उनमें भी प्राकृतिक तत्व सम्मिलित किये जाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जिसे हम एडवांस कहते हैं उसकी जड़ें भी लोक में ही सन्निहित हैं। इतना ही नहीं बाजारों में बड़े पैमाने पर वर्मीकम्पोस्ट खाद, गोबर गैस आदि की खरीद फ़रोख्त जारी है। आज उच्च दरों पर बिकने वाले ये उत्पाद पहले से ही लोक-व्यवहार में प्रचलित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में बाजारीकरण के प्रभाव से लोक प्रचलित उत्पाद एक कल्चरल प्रोडक्ट के रूप में विश्व बाजार में बिकने लगा है जो मुख्यतः लोक के अनुकरण का ही परिवर्द्धित (मॉडिफाइड) रूप है।

लोक न तो तत्सम है और न ही तद्भव। यह हमेशा से देशज संस्कृति है जिसका कोई संदर्भ (रेफरेंस) नहीं है। लोक के विराट स्वरूप के जड़ों की गहराई को हम ज़मीन में नहीं तलाश सकते। यह किसी महासमुद्र की भाँति इतना अधिक विस्तृत और गतिशील है कि इसके प्रारंभ और अंत को मापना असंभव है। लोक अपने मार्ग पर सतत प्रवाहमान है। इसकी प्रवृत्ति तर्क से पराजित होने वाली नहीं है। लोक की रीतियाँ, मान्यताएँ और विश्वास सभी वैज्ञानिक तर्कों से पृथक चिरस्थापित और अकाट्य हैं। लेकिन इन सबके बरअक्स हम लोक की रूढ़ियों और विद्रूपताओं को दरकिनार नहीं कर सकते हैं। चिरप्रचलित प्रथाओं के पीछे अनेक ऐसे रूढ़िगत विचार और विश्वास जुड़े हुए हैं जिनका आधार कुत्सित मानसिकता, अज्ञानता और अंधविश्वास है। वर्ग भेद और वर्ण भेद के कारण समाज का स्तरीकरण हो जाता है। जातिगत श्रेष्ठताबोध से समाज में वैमनस्य, हिंसा,

उपेक्षा, तिरस्कार आदि भाव उत्पन्न होते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप लोक में प्रचलित नाना कटु उक्तियों को देख सकते हैं जिनमें किसी नीच समझी जाने वाली जाति को अपमानित किया जाता है और उतनी ही तीक्ष्णता से प्रतिक्रिया में क्षोभ और आक्रोश व्यक्त किया जाता है। मूलतः एक-दूसरे पर व्यंग्य करके वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के तौर पर लोक में प्रचलित उक्तियों को देख सकते हैं जिनमें ऐसी सामाजिक विषमताएँ स्पष्टतः उभर कर आती हैं। यथा- 'कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली', 'नीच जात लतियाए अच्छा', 'सोनरवा के ठुक ठुक, लोहरवा के धम्म', 'घातै घात चमरऊ पूछै, मलिकौ पड़वा नीके है', 'करिया ब्राह्मण गोर चमार, इ दुनो से रहि होशियार', 'त्रियाचरित्र न जाने कोय, खसम मारि के सत्ती होय' आदि लोकोक्तियों में तमाम तरह की विषमताओं के अतिरिक्त उच्च वर्ग के प्रभुत्व तथा पितृसत्तात्मक समाज की वर्चस्ववादी प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है क्योंकि लोक की उक्तियों में महिलाओं के व्यक्तित्व और चरित्र को लेकर अधिक मात्रा में कटूक्तियाँ प्रचलित हैं। यहाँ तक कि लोक में प्रचलित गाली-गलौज पर ग़ौर किया जाए तो वे भी अधिकतर महिलाओं के अंग अथवा चरित्र को लेकर गढ़े जाते हैं। इस तरह के उदाहरण कमोबेश हमें सभी लोक समाज में सहज रूप से मिल जाते हैं। लोकमानस की ऐसी स्तरीय समाज व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि 'हिंदू समाज में नीची से नीची समझे जाने वाली जाति भी अपने से नीची एक और जाति ढूँढ लेती है।' लोक में रूढ़िवाद के अतिरिक्त धर्मभीरुता भी मौजूद होती है। धार्मिक नीतियों, विश्वासों, आचार-व्यवहार, आडम्बरों को लेकर लोक में दृढ़ता और कठोरता है। जहाँ एक ओर लोक में गतिशीलता है, लचीलापन है। वहीं दूसरी ओर धर्म को लेकर इतनी सख़्ती है कि किसी भी तरह का बाहरी हस्तक्षेप ग्राह्य नहीं है। लोक समाज में रहने वाले सभी लोगों के लिए जो मान्यताएँ, आचार-व्यवहार निर्धारित की गयी हैं, जीवन-शैली में जिन नियमों और शर्तों को शामिल किया गया है, दरअसल वे ही लोकधर्म कहलाते हैं। इन्हीं का पीढ़ियों तक अनुगमन होता है। ध्यातव्य है कि इस लोकधर्म के अंतर्गत समाज के विशिष्ट वर्ग के लिए कुछ अन्य तथा विशेष नियम मौजूद हैं।

लोक पहली परंपरा है जिसकी व्याप्ति दूरगामी है। लोक समस्त चराचर के कण-कण से अनुभव प्राप्त कर उसे अपनी सृजनात्मकता का आधार बनाता है। इसी कारण लोक के विषय में विविधता होती है। सरल, स्वाभाविक और स्वच्छंद प्रवाह में आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मतुष्टि के उद्देश्य से लोक रचनाएँ करता है। लंबे समय तक पीढ़ियों में लोक प्रचलित भावों और विचारों का मौखिक प्रवाह होने के कारण लोक की छवि और शैली में एकरूपता नहीं रहती। इसीलिए लोक की अवधारणा तमाम पौराणिकता के बावजूद जड़ न होकर

गतिशील है। लोक की सामाजिकी पर सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो इस समाज में वर्ण व्यवस्था तो है ही परंतु वर्ग-भेद के कारण लोक में एक विशेष विभाजन दिखाई देता है। लोक में एक तो ऐसा सामान्य वर्ग है जो अपने आचार-व्यवहार में भिन्न तथा पिछड़ा हुआ है। यह वर्ग पौराणिक रीति-नीति, मान्यताओं तथा अंध परंपराओं को लेकर इतना जड़ है कि उनमें आमूल-चूल परिवर्तन भी अस्वीकार्य है। ऐसे अंधविश्वास, रूढ़ियाँ तथा अशिक्षा सामान्य लोक के विकास में बाधक होते हैं। साधारणतः यह देखा जाता है कि लोक आधुनिक विचारों को लेकर अपनी अलग दृष्टि रखता है। एक तरह से वह सदैव द्वंद्व की स्थिति में रहता है। यदि नए विचारों को किसी कारणवश अपनाता भी है तो अपनी संस्कृति, जीवन शैली तथा समाज के अनुकूल उसके परिवर्तित रूप को ही आत्मसात करता है। वहीं दूसरी ओर सामान्य लोक के इतर एक ऐसा वर्ग भी है जो अपने आचार-विचार तथा जीवन शैली में विद्यमान रूढ़ियों को त्यागकर स्वयं को अधिक प्रगतिशील साबित करता है। यह वर्ग सामान्य लोक से कहीं अधिक विकसित होता है जिसका प्रमुख कारण शिक्षा और आर्थिक स्थिरता है। ऐसे भद्रलोक तमाम तरह के अंधविश्वास, धार्मिक और सांप्रदायिक कट्टरता से दूर होते हैं लेकिन लोक समाज के इस वर्ग के संदर्भ में इस बात को कदाचित नज़रअंदाज नहीं कर सकते कि भद्रलोक आधुनिक विचारों को अपनाने के क्रम में उच्च पारंपरिक मूल्यों को विस्मृत करता जा रहा है।

समान्य लोक और भद्र अथवा शिष्ट लोक जिस तरह एक-दूसरे से संबद्ध होते हुए भी प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित होते हैं। ठीक इसी प्रकार लोक और शास्त्र का भी समतुल्य पक्ष और प्रतिपक्ष है। हम लोक और शास्त्र के द्वंद्व से भली प्रकार परिचित हैं। यह द्वंद्व समाज के आभिजात्य वर्ग द्वारा प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है लेकिन हमें यह बोध होना चाहिए कि लोक, शास्त्र का परिपूरक है। शास्त्र का प्रमुख स्रोत है। लोक और शास्त्र को लेकर जब कभी बहस छिड़ी है तो इसमें वर्चस्ववादियों ने लोक की सहजता, स्वच्छंदता और विशिष्टता को दरकिनार कर शास्त्रोक्त नियमों को वरीयता प्रदान की है। लोक और शास्त्र की ऐसी द्वंद्वात्मक स्थिति में कबीर की यह उक्ति 'संस्कीरत है कूप जल, भाखा बहता नीर' अत्यंत प्रासंगिक और विचारणीय है। यहाँ संस्कीरत यानी संस्कृत 'शास्त्र' का तथा भाखा अर्थात् भाषा 'लोक' का द्योतक है। लोक बहते नीर की भाँति सतत गतिशील है। अर्थात् वह जीवित जल का सोता है परंतु जिस प्रकार कुएँ का निर्माण कर जल को संरक्षित किये जाने के क्रम में आंतरिक जल का एक स्रोत अवश्य छोड़ा जाता है। उस जीवित जल के स्रोत के समाप्त होते ही कुआँ सूख जाता है। ठीक उसी प्रकार शास्त्र भी उस कुएँ की तरह अनुशासित और व्यवस्थित तो है लेकिन उसमें जीवंतता लोक से आती है। लोक पूरी स्वच्छंदता से विचरण करता है परंतु

शास्त्र नीति-नियमों में बँधकर भी एक द्वार लोक से कुछ ग्रहण करने हेतु अथवा लोक में प्रवेश हेतु खुला रखता है। शास्त्र लोक से विषय लेकर, लोक शैली का अनुगमन करते हुए नवीन रूप पाता है। जैसे- हिंदी साहित्य में कई कवि ऐसे हैं जो अपनी जन्मभूमि के ग्रामीण परिवेश को अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं। यथा: कवि नागार्जुन-मिथिला, त्रिलोचन-अवध के परिवेश से विषय लेकर कविताएँ लिखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास लोक और शास्त्र की द्वंद्वात्मक स्थिति को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि वह चाहे लोक हो अथवा वेद दोनों के मूल में मानवीय प्रेम, संवेदना और आपसी विनयशीलता है। अर्थात् मानवीय मूल्यों को समाज में स्थापित करना इन दोनों का प्रमुख उद्देश्य है। तुलसीदास के शब्दों में "लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती। विनय सुनत पहँचानत प्रीती।।"[10]

लोक और शास्त्र में परस्पर भेद के बावजूद इसे एक युग्मित अथवा द्विचर कह सकते हैं। लोक और शास्त्र क्रमशः शुद्धतावाद और विशुद्धतावाद की कसौटी पर चलते हुए कई अर्थ छवियों को प्रस्फुटित करते हैं। जैसे- लोक और शास्त्र की परंपरा के साथ-साथ सामान्य जन और अभिजन अथवा कुलीन जन, गँवई और नागर, मौखिक और लिखित, स्थानीय और सार्वभौमिक, फोक और क्लासिकल आदि। इन सभी अर्थ छवियों के बीच सबसे प्रमुख तत्व है स्थानीयता अथवा क्षेत्रीयता। अर्थात् जो लोकल है, जिसमें आम जनमानस की भावनाओं तथा व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व हो, जीवन के निश्छल, सहज-सप्राण, स्वाभाविक दर्शन की अभिव्यक्ति हो, वही लोक कहलाता है। लोक में श्रद्धा और विश्वास है। शास्त्र में बुद्धि और तर्क का सामंजस्य है। लोक और शास्त्र के द्वंद्व की स्थिति को सूरदास ने 'भ्रमरगीत' में गोपी-उद्धव संवाद के माध्यम से जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है। गोपियों को किसी शास्त्र का ज्ञान नहीं होता। वे लोक का प्रतिनिधित्व करती हुई उद्धव के तमाम शास्त्रीय तर्कों को ख़ारिज करती हैं। वे कृष्ण के प्रति पूर्णतः समर्पित रहकर केवल अपने प्रेम की जीत चाहती हैं। इस संवाद में ब्रजलोक की ऐसी जीवंत छवि मुखरित होती है कि लोक के आगाध प्रेम और हृदय के विस्तार का सहज अनुमान हो जाता है। सूर के 'भ्रमरगीत' से लोक और शास्त्र के द्वंद्व को अभिव्यंजित करती कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहें/

यह ब्योपार तिहारो ऊधो! ऐसोई फिरि जैहै।।"[11]

इसमें गोपियाँ उद्धव को ज्ञान का व्यापारी बताते हुए उसके ज्ञान पर कटाक्ष करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव! तुम्हारा यह योग-साधना का ज्ञान यहाँ ब्रज में कोई ग्रहण नहीं करेगा। योग का यह व्यापार धरा का धरा रह जाएगा। आगे वे पुनः व्यंग्य शैली में उपहास करती हुई कहती हैं कि उद्धव अपने सिर पर निर्गुण ज्ञान का बड़ा-सा खेप लादे हुए ब्रज में घूम रहा है। उसे लगता है कि हम अशिक्षित, निश्छल गोपियाँ उसके योग-ज्ञान को अपना लेंगी। वह चतुर व्यापारी हमें अबोध, अज्ञानी जानकर हमारे साथ नुकसान का सौदा करना चाहता

है। वह अपने निर्गुण ज्ञान (शास्त्र ज्ञान) रूपी फटकन के बदले हम से स्वर्ण अर्थात् हमारे प्रेम-ज्ञान का सौदा करना चाहता है। भला कौन अपने घर के मीठे दूध को छोड़कर कुएँ के खारे जल को पीना चाहेगा। पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

"आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुण ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी।।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट जु धारी।
x x x x x
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी।।"[12]

इसी तरह गोपियाँ पुनः उद्धव को योग-साधना के मार्ग पर चलने वाला प्रकांड विद्वान कहते हुए कटाक्ष करती हैं कि देखो वेद-पुराणों के ज्ञान की गठरी सिर-माथे लिए हुए ज्ञानी उद्धव बंजारे की तरह भटक रहे हैं लेकिन इनके इस नीरस ज्ञान की शिक्षा लेने में किसी की रुचि नहीं है।

"आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े।।"[13]

लोकमानस की छवि को स्पष्टतः रेखांकित करते हुए गोपियाँ ज्ञानमार्ग को सिरे से ख़ारिज करती हैं। वे बार-बार कहती हैं कि यहाँ ब्रज में कोई भी इस योग व्रत को साधने वाला नहीं है। "हमरे कौन जोग व्रत साधै?"[14] अतः ज्ञानमार्ग का साधक बुद्धिजीवी उद्धव अपने समस्त शास्त्रीय ज्ञान को लेकर मथुरा लौट जाएँ। गोपी-उद्धव संवाद में उद्धव के सभी तर्कों को गोपियाँ अपने सामान्य जनजीवन से प्राप्त अनुभव के आधार पर प्रतिरोध करती हैं। वे सभी अंत तक अपने फैसले पर अडिग रहकर ज्ञानमार्ग के बदले प्रेममार्ग का चयन करती हैं। इस पूरी संवाद-प्रक्रिया में लोक कहीं भी शास्त्र का हस्तक्षेप, उसका प्रभाव ग्रहण नहीं करता। न ही किसी नीति का अनुसरण करता है। लोक अपने परिवेश से सामान्य ज्ञान के बल पर दैनिक जीवन के छोटे-छोटे तत्वों का उदाहरण देते हुए अपनी बातों को पुष्ट करता है।

सारतः यह कहा जा सकता है कि लोक में सामान्य जन के भावों विचारों, अनुभवों का समावेश है। यह कोई जड़ न होकर सतत प्रवाहमान है। लोक किसी भी भाव अथवा विचार को अपने अनुकूल ढालकर ही ग्रहण करता है। वेद भी लोक का अनुसरण करते हुए अपने लिए नयी विषय-वस्तु को गढ़ता है। अर्थात् शास्त्र

को लोक के साथ सामंजस्य बिठाकर ही आगे बढ़ना पड़ता है। लोक आधार है तो शास्त्र आधेय। लोक अपने अनुकूल नीति-नियमों को गढ़ता है और उनका कठोरता से पालन भी करता है। लोक अपनी व्यापकता के साथ गूढ़ है। लोक में समाज के अनुरूप जितने भी रूढ़िगत विचार, अंधविश्वास तथा मान्यताएँ चिरकाल से प्रचलित हैं वे दरअसल में लोक की सारी विशिष्टताओं के बरअक्स उसके विकास में बाधक हैं।

संदर्भ सूची-

1. कुंदनलाल उप्रेती, लोकसाहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ संख्या. 15
2. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या. 10
3. बद्री नारायण, लोक संस्कृति और इतिहास, पृष्ठ संख्या. 89
4. सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या. 15
5. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या. 10
6. कुन्दन लाल उप्रेती, लोक साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ संख्या. 15
7. श्याम परमार, भारतीय लोक-साहित्य, पृष्ठ संख्या. 10
8. (सं.) कैलाशचंद्र भाटिया, ब्रजलोक, पृष्ठ संख्या. 150
9. चंद्रदेव यादव, लोक-समाज और संस्कृति, पृष्ठ संख्या. 07
10. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ संख्या. 59
11. किशोरीलाल, सूरदास और भ्रमरगीत सार, पृष्ठ संख्या. 81
12. वही, पृष्ठ संख्या. 80
13. वही, पृष्ठ संख्या. 82
14. वही, पृष्ठ संख्या. 84

2.2 लोक साहित्य का स्वरूप एवं क्षेत्र

भारतीय संस्कृति लोक संस्कृति का समन्वित रूप है। इसमें भारत के विभिन्न क्षेत्रीय लोक जीवन का कोलाज प्रतिबिंबित होता है। दरअसल, लोक जीवन के विश्वासों, रीति-रिवाजों, धार्मिक मान्यताओं, आचार-विचार, रहन-सहन आदि सभी लोक संस्कृति के दायरे में आते हैं। कुछ लोग लोक संस्कृति के स्थान पर लोक-वार्ता शब्द का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए *'Folklore'* शब्द प्रचलित है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार 'फोकलोर' शब्द का अर्थ सुसंस्कृत लोगों के ज्ञान के संदर्भ में लिया जाता है। लोक में प्रचलित आचार-विचार, विश्वास और मान्यताओं के आधार पर अर्जित ज्ञान और अनुभव की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति लोक साहित्य में होती है। चूँकि लोक साहित्य की सम्पूर्ण विषयवस्तु लोक संस्कृति पर आधारित है। अतः लोक साहित्य के स्वरूप को समझने से पूर्व लोक संस्कृति का ज्ञान होना अपेक्षित है। प्रकृति जगत के जड़ और चेतन सभी तत्वों से लोक संस्कृति का संबंध है। इन सभी से अनुभव पाकर लोक में अनेकों विश्वास रूढ़ हो जाते हैं। अमंगल से निवृत्ति तथा मंगल की कामना से लोकमानस में अनेक रीति-रिवाज, प्रथाएँ, अनुष्ठान, संस्कारगत आचार-विचार, मिथक, अंध परंपराएँ चिरकाल से प्रचलित हैं। ऐसी परंपराओं और विश्वासों के पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण से लोक संस्कृति जीवंत रहती है। अतः हम कह सकते हैं कि लोक संस्कृति का उत्स आम जनमानस से है जो वैज्ञानिक तर्क-प्रयोग तथा बौद्धिक विकास की चरम सीमा पर आसीन न होकर भी शास्त्रीय ज्ञान का आधार है। शास्त्र का पथ प्रदर्शक है। लोक संस्कृति किसी भी समुदाय की आंतरिक सुख-समृद्धि का सूचक है। इसमें आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार के विचार मौजूद हैं। उदाहरण के तौर पर मृत्यु, पुनर्जन्म, जीवनादर्श, सामाजिक रूढ़ियाँ, विश्वास, उत्सव, पोशाक आदि संबंधी विचार प्रविष्ट हैं। परंतु यह भी ध्यान देने योग्य है कि समय के परिवर्तन के साथ लोक संस्कृति भी समाज में अनवरत हो रहे परिवर्तनों को आत्मसात करती हुई स्वयं भी कुछ परिवर्तित होती रहती है।

लोक संस्कृति पर आधारित सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं, जिजीविषा, हर्ष, विषाद, कुंठा, विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं की सजह स्फूर्त अभिव्यंजना लोक साहित्य में स्थान पाती हैं। लोक साहित्य का मूल आधार लोक संस्कृति से प्राप्त लोकानुभव है। लोक साहित्य लोक संस्कृति का मूर्त रूप है। इन दोनों के अंतःसंबंध को डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय कुछ इस प्रकार बताते हैं कि "यदि लोक संस्कृति की किसी विशाल वृक्ष से उपमा दी जाए तो लोक साहित्य उसकी एक शाखा के समान है। यदि लोक संस्कृति एक विस्तृत नदी है तो लोक साहित्य

की उपमा उसकी छोटी-सी सहायक नदी से दी जा सकती है....स्पष्टतः शब्दों में यदि लोक संस्कृति की उपमा शरीर से दी जाए तो लोक साहित्य उसके एक अंग के तुल्य है। इस प्रकार इन दोनों में अंगी-अंग भाव स्थापित होता है।"[1] अर्थात् लोक संस्कृति किसी जलाशय के सामान है जिससे पोषक तत्व ग्रहण कर लोक साहित्य रूपी कमल खिलता है। लोक संस्कृति अथवा लोक साहित्य से उन समस्त विशिष्ट जीवन शैली अथवा अभिव्यक्ति का बोध होता है जिसमें आदि मानव के अवशेष मौजूद हों। अर्थात् लोक तत्वों का सामासिक वर्णन विद्यमान हो। वैसे तो 'लोक', 'लोक साहित्य' और 'लोक संस्कृति' का उल्लेख वेदों, पुराणों में मिलता है परंतु इसके अध्ययन की परंपरा बहुत प्राचीन नहीं है। लोक साहित्य के अध्ययन की पाश्चात्य परंपरा का सूत्रपात मध्ययुग से हुआ। प्रारंभ में इसके लिए 'पॉपुलर एंटिक्विटिज़' यानी 'लोकप्रिय पुरातत्व सामग्री' अथवा 'लोकप्रिय साहित्य/ पॉपुलर लिटरेचर' नाम प्रचलित था। सन् 1846 ई० में अंग्रेज पुरातत्वविद् विलियम टॉम्स ने अध्ययन की इस शाखा के लिए 'फोकलोर' नाम प्रस्तावित किया। अब यही नाम सर्वमान्य है। टॉम्स के पूर्व लोक संस्कृति व साहित्य के अध्ययन में जॉन ऑब्रे, हेनरी बॉर्न, टॉमस पर्सी, जेकब ग्रिम आदि नाम प्रमुख हैं। जॉन ऑब्रे ने सन् 1688 ई० में अपनी पुस्तक 'रिमेंस ऑफ़ जेंटिलिज्म एंड जूडैज्म' में यूरोप के जनमानस में प्रचलित रीति-रिवाजों और किंवदंतियों का उल्लेख किया है। इसी तरह हेनरी बॉर्न और टॉमस पर्सी की 'एंटिक्विटिज़ वल्गर्स ओर द एंटिक्विटिज़ ऑफ़ द कॉमन पीपल' (1746) और 'रिलिक्स ऑफ़ एनसिएंट इंग्लिश पोएट्री' (1765) जैसी पुस्तकें यूरोपीय समाज में प्रचलित लोक संस्कृति तथा साहित्य को प्रकाश में लाती हैं। इनमें शामिल किये गये तत्कालीन यूरोपीय लोक समाज की गीति कथाओं, परी कथाओं, भूत-प्रेत, तिलस्म, जादुई कथाओं ने हाशिये के समाज की अभिव्यक्ति की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। मूलतः पाश्चात्य लोक साहित्य भौतिकतावादी है। युद्ध और विस्थापन की त्रासदी के अनुभवजन्य अभिव्यक्ति के कारण पाश्चात्य लोक साहित्य की दृष्टि दुखांत रही है। वहीं लोक साहित्य की भारतीय परंपरा मानवतावादी तथा आध्यात्मिक है। पाश्चात्य दृष्टि में जहाँ लोक और शास्त्र में द्वंद्वात्मक संबंध को दर्शाया गया है तथा लोक को अशिक्षित, असंस्कृत मानकर उसके प्रति हेय दृष्टि रखते हैं वहीं भारतीय दृष्टि में लोक, शास्त्र की प्रमाणिकता का आधार है। भारतीय परंपरा में लोक और शास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। लोक में व्याप्त तमाम भग्नाशा, विसंगति, कुंठा के बावजूद इसका अंत हमेशा सुखमय होता है। इसमें अथक परिश्रम तथा संकट और संघर्ष के क्षण में अडिग रहकर जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण दिखायी देता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर लोकविदों द्वारा निष्पादित लोक साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

* सोफिया बर्न के अनुसार, "लोक वार्ता ने अपने को एक जाति-बोधक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है जिसके अंतर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित या उन्नत जातियों के असभ्य वर्गों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, जाति और कहावतें आदि आते हैं।"[2]

* लोकालोब, "लोक साहित्य में मनुष्य के आदिम संस्कारों के बीज अवश्य रहते हैं। आदिम संस्कारों का आशय उन गुणों, विशेषताओं तथा धर्मों से है जो ऐतिहासिक दृष्टि से आदि मानव में समाविष्ट होंगे और जो आज भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समस्त मनुष्यों में प्राप्त होते हैं।"[3]

* राल्फ स्टीले बोग्स, " लोक साहित्य के अंतर्गत मौखिक परंपरा में उपलब्ध सामग्री को ही उपयुक्त माना है।"[4]

* हजारी प्रसाद द्विवेदी, "ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आंदोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोकसाहित्य, लोकशिल्प, लोकनाट्य, लोककथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं।"[5]

* सत्येंद्र, "लोक साहित्य के अंतर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है, जिसमें- (अ) आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों, (आ) परंपरागत मौलिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो, (इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ संबद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।"[6] लोक साहित्य के स्वरूप को और स्पष्टतः समझाते हुए कहते हैं "वास्तव में लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता है, और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक-मानस प्रतिबिंबित रहता है।"[7]

* कृष्णदेव उपाध्याय, "सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसे लोक साहित्य कहते हैं।"[8]

* श्याम परमार, "लोक-साहित्य किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता। उसके पीछे परंपरा होती है जिसका संबंध समाज से भिन्न नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक है। व्यक्तित्व से रहित समान रूप में समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियाँ लोक-साहित्य की श्रेणी में आती हैं।"[9]

लोक साहित्य लोक का दर्पण है। लोक की समस्त भावराशि लोक साहित्य में दर्ज़ रहती है। लोक साहित्य व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रहता बल्कि इसका प्रवाह समूचे समाज में व्याप्त होता है। इसीलिए लोक साहित्य को सामाजिक अभिव्यक्ति भी कहा जाता है जिसमें विशिष्ट वर्ग के स्थान पर सामान्य वर्ग को केंद्र का स्थान प्राप्त है। यह सामान्य जन द्वारा सृजित, पोषित और संवाहित साहित्य है। लोक साहित्य में मानव-मन के भावों तथा अनुभूतियों का स्वच्छंद विचरण होता है। सामान्य जन की पीड़ा, जिजीविषा, हर्ष, संवेदना आदि कोमल मनोभावों का दीर्घकालिक प्रवाह लोक साहित्य के माध्यम से होता है। हिंदी साहित्य कोश में यह उल्लेख किया गया है कि "लोक साहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता द्वारा, जनता के लिए लिखा गया हो।"[10] लोक साहित्य में सहज, स्वाभाविक शब्दों के माध्यम से की गयी अभिव्यक्ति किसी नदी की अविरल धाराप्रवाह की भाँति एक पीढ़ी से परवर्ती पीढ़ियों में संवाहित होती रहती है। इसकी कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। लोक साहित्य की प्रासंगिकता सदैव बरक़रार रहती है। डॉ० सत्येंद्र अपनी पुस्तक 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' में लोक साहित्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि "लोकवार्ता-साहित्य का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से उतना नहीं होता, जितना उनमें सुरक्षित उन परंपराओं की दृष्टि से होता है जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालतीं हैं। इस साहित्य को आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों का कोष कह सकते हैं।"[11]

लोक साहित्य का जन्म स्वतः हो जाता है। मानव जीवन में सुख अथवा दुःख की अधिकता होने पर उस दौरान प्राप्त अनुभूतियों को भाषिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने का सामर्थ्य एक विलक्षण गुण है। आदिम मानव ने तत्कालीन दौर में अपनी संवेदनाओं तथा अनुभवों को शब्दों में गूँथकर कलात्मक अभिव्यक्ति

की है। आदिम मानव के इस साहित्य में प्रकृति के साथ प्रगाढ़ संबंध की सहज अनुभूति होती है। विशिष्ट लय, मादकता, रागात्मकता के साथ लोक साहित्य में सन्निविष्ट मनोवैज्ञानिक भाव अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती हुई सर्वत्र व्याप्त हुई है। सामान्य जन द्वारा भावनाओं को विषयवस्तु बनाकर गीत, कथा, गाथा, सुभाषित आदि विधाओं के माध्यम से की गयी इस सृजनात्मक अभिव्यक्ति की मौखिक परंपरा रही है। हालाँकि अब इसे लिपिबद्ध करने का प्रयास किया जाने लगा है। लोक साहित्य अनेक रचनाकारों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। ऐसा कहा जा सकता है कि इन रचनाओं के प्रारंभिक दौर में किसी व्यक्ति ने एक-आध पंक्ति रचकर पहल की होगी। आगे उसी समुदाय के अलग-अलग लोगों ने कुछ और अनुभवजन्य पंक्तियाँ जोड़कर रचना को आगे बढ़ाया होगा। इस प्रकार पीढ़ियों से एक कंठ से दूसरे कंठ तक प्रतिध्वनित होती हुई ये हस्तांतरित हुईं और क्रमशः परिवर्तित भी होती रहीं। जनसमूह द्वारा आपसी सहयोग से रचे गये लोक साहित्य में जीवन का कोई अंश अछूता नहीं रह पाता है। लोक साहित्य में किसी भी समुदाय की आदिम अवस्था से लेकर वर्तमान समय की बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विचारोत्कर्ष का सम्पूर्ण भान होता है। लोक साहित्य की परिभाषा एवं स्वरूप का अवलोकन करने के पश्चात् इसकी सामान्य विशेषताएँ कुछ इस प्रकार हैं-

* लोक साहित्य लोक मानस द्वारा रचित और संवर्द्धित होता है। इसका रचनाकाल तथा रचनाकार दोनों ही अज्ञात होते हैं।

* लोक साहित्य की शैली वाचिक होती है। यही कारण है कि लोक साहित्य के स्वरूप एवं शैली में समय सापेक्ष परिवर्तन दिखायी पड़ता है।

* लोक साहित्य में सामूहिक भावना एवं समरसता का सामंजस्य होता है।

* लोक साहित्य आदिम मानव के प्राकृतिक जीवन की गाथा है जिसमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता तथा अतिरंजना का सर्वथा अभाव रहता है।

* यह आम जनमानस की भावनाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता हुआ चिरकाल तक गमन करता है। इसमें लोक की तीव्र उत्कंठा की सहज स्फूर्त अभिव्यक्ति होती है।

* लोक साहित्य शास्त्रोक्त नियमों का अनुसरण नहीं करता है। लोक की अभिव्यक्ति स्वच्छंद होती है। अशिक्षित, सामान्य जन द्वारा स्वतः अभिव्यक्ति होने के बावजूद इस साहित्य में जाने-अनजाने ऐसे उपमानों का प्रयोग देखा जाता है जिसका अनुकरण शास्त्र में प्रयोज्य है।

* इसमें आदिम सभ्यता के पुट मौजूद होते हैं जो तमाम तरह के तर्क एवं वैज्ञानिक प्रयोगों से दूर अपने ज्ञान व कौशल के आधार पर जीवन दृष्टि तथा बौद्धिकता को विकसित करते हैं।

* लोक साहित्य अनगढ़ तथा नैसर्गिक साहित्य है। इसमें अभिव्यक्ति के लिए अतिशिष्ट, चमत्कारपूर्ण भाषा का प्रयोग न करके समुदाय विशेष में प्रचलित बोली का प्रयोग देखा जाता है। यही कारण है कि लोक साहित्य के अध्ययन के पश्चात् किसी भी जाति अथवा समुदाय विशेष की वैचित्र्यपूर्ण संस्कृति के अतिरिक्त भाषा अथवा बोली पर भी समझ विकसित होती है।

* लोक साहित्य के मूल में मानवतावाद और जन-कल्याण की भावना निहित है। इसकी दृष्टि लोकानुगामी होती है। उदाहरण के लिए लोक साहित्य की प्रमुख गद्य विधा लोककथा को देखें तो इसमें लघु कहानियों के माध्यम से जीवन के विविध प्रसंगों को उकेरा जाता है। और, सत्य की जीत, समाज कल्याण, सुखमय जीवन जैसे निहितार्थ के साथ कथाओं का अंत होता है।

* शिल्प पक्ष की उत्कृष्टता पर ध्यान न देकर भाव पक्ष को प्रधानता दी जाती है। इसमें संगीत के तत्व भी मौजूद होते हैं।

* लोक साहित्य की विविध विधाओं में नारीपरक अभिव्यक्ति को विशेष स्थान प्राप्त है। विभिन्न पर्व-त्योहार, ऋतु-परिवर्तन, विरह-वेदना आदि से संबंधित गीत, कथा लोक साहित्य की समृद्धि के प्रमुख तत्व हैं जो प्रमुखतः श्रृंगार और वीर रस प्रधान होते हैं।

लोक साहित्य में लोक जीवन का सत्य उभरकर आता है। लोक साहित्य युग सापेक्ष घटनाओं, सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ व्यक्ति के अनुभवों को सजीव बनाता है। कालातीत से विस्मृत हो चुकी स्मृतियों को लोक साहित्य किसी अलिखित दस्तावेज की तरह अपने में समेटे हुए होता है। लोक में प्रचलित गीत, कथाओं, गाथाओं, पहेलियों, कहावतों आदि के माध्यम से देशकाल, वातावरण, नदी-नहर, कृषि व्यवस्था आदि सभी का उल्लेख मिलता है। गीत-कथाओं में किसी नदी विशेष को पृष्ठभूमि बनाकर नाना मिथकीय कथाएँ रची जाती हैं। इसी प्रकार श्रम से संबंधित गीतों में किसी अंचल विशेष की भौगोलिक परिस्थिति के अनुकूल कृषि से उत्पन्न फसलों की जानकारी मिलती है। ऋतु परिवर्तन के प्रभावस्वरूप प्राकृतिक रूप में परिवर्तन के साथ-साथ मानव मन में रागानुराग उत्पन्न होता है। प्रकृति के विभिन्न तत्वों, कुछ विशेष पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों को भी लोक साहित्य में रूपक के तौर पर उपयोग किया जाता है। कई बार लोक अपने

मनोभावों को इन पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों के माध्यम से व्यक्त करता है। लोक साहित्य की जड़ें आध्यात्मिकता से जुड़ी हुई हैं। लोक का धर्म के साथ अभेदात्मक संबंध है। इसीलिए लोक साहित्य में धार्मिक भावनाएँ प्रकाश में आती हैं। धर्म-संबंधी शकुन और अपशकुन को ध्यान में रखकर अनेकों विश्वास एवं मान्यताएँ सदियों से लोक-जीवन को प्रेरित और प्रभावित करते आये हैं। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय लोक साहित्य में धर्म संबंधी विश्वास के संदर्भ में कहते हैं कि "लोक साहित्य के सभी अंगों में धर्म उसी प्रकार से वर्तमान है जिस प्रकार से माला की प्रत्येक मनिका में सूत्र। धर्म की अनुस्यूयता के कारण ही जनता का साहित्य इतना लोकप्रिय हो सका है। इसी हेतु इसको इतनी स्थायित्व प्राप्त हो सकी है।"[12] इन्हीं धार्मिक विश्वासों के बल पर लोक कर्म के प्रति आस्थावान रहता है। गीति-कथाओं, गाथाओं के अंत में *'जैसे उनके दिन फिरे वैसे ही हमारे हो', 'जैसी करनी वैसी भरनी'* जैसे वाक्यांशों की अनुगूंज मिलती है। कहावतों, मुहावरों में भी कटाक्ष अथवा वैचित्र्यपूर्ण उक्तियों के माध्यम से समाज में सदाचार, भाईचारा, सतीत्व, सत्यनिष्ठा की प्रेरणा देने का प्रयास भी लोक साहित्य का एक प्रमुख उद्देश्य है। लोक साहित्य में देवी-देवताओं की अराधना में वंदना गीत, भक्तिपरक व्रत कथाएँ, मंत्र आदि बहुधा प्रचलित हैं। सूर्य, चंद्र, पीपल, तुलसी, बरगद, विशाल नदी, पहाड़, साँप आदि की पारंपरिक पूजा का विधान भी लोक साहित्य में वर्णित मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य में धार्मिक भावों की मौजूदगी के कारण इसका स्वरूप इतना अधिक सजीव है। इसमें धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं और सांस्कृतिक अनुष्ठानों के वर्णन से लोक के सांस्कृतिक उत्थान तथा उसमें अवरोध को सहजता से समझा जा सकता है।

लोक साहित्य में सामाजिक जीवन की यथार्थ स्थिति का परिज्ञान होता है। समाज के सभी पहलुओं का सम्यक् वर्णन लोक साहित्य की परिसीमा में समाहित है। समाज में व्याप्त सुख-दुःख, आशा-निराशा, राग-द्वेष आदि सभी मनोभावों का सटीक चित्रण लोक साहित्य में विद्यमान है। हर्ष, प्रेमानुराग के अतिरिक्त मानव के अनेक मनोविकार जैसे कुंठा, खीझ, क्रोध, चिंता, वेदना आदि को शब्दगत भाव देकर इन मानसिक विकारों से विरेचन संभव होता है। इसके अतिरिक्त मानव संबंधों में भावनात्मक जुड़ाव के मधुर स्पर्श की छवि लोक साहित्य में मौजूद है। त्याग, कर्तव्यबोध, मिलन-विच्छेद, सतीत्व-रक्षा, प्रेम की पराकाष्ठा आदि के माध्यम से मानव जीवन में नैतिक मूल्यों के अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसके विपरीत सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाएँ, प्रथाएँ, कुरीतियाँ, रूढ़िगत विचार, अंधविश्वास तथा अन्य विद्रूपताओं की मौजूदगी को दर्शाकर यथास्थान नैतिक मूल्यों के अपकर्ष को भी दर्शाने का प्रयास किया गया है। कुलमिलाकर लोक की

भावनाओं के साथ ही सामाजिक खाँचे का हू-ब-हू मानचित्र लोक साहित्य में चिह्नित होता है। तदनुरूप हमें लोक साहित्य की विशिष्ट भाषा व्यवहार का भी परिज्ञान होता है। लोक साहित्य का कथ्य पक्ष जितना रोचक और वैविध्यपूर्ण है उतना ही ठेठ और प्रतीकात्मक इसका शिल्प पक्ष भी है। भाषिक दृष्टि से देखने पर लोक साहित्य में जाति-गोष्ठी के अनुरूप उनके समाज में प्रचलित ठेठ शब्दों का अधित प्रयोग होता है। ऐसी विविध प्रयुक्तियों के प्रयोग से लोक साहित्य में भाषिक समृद्धि आयी है जिसके फलस्वरूप न केवल जाति अथवा समुदाय विशेष की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त होता है बल्कि अन्य भाषाओं से भावाभिव्यंजना हेतु शब्द-शक्ति की विशिष्टता तथा अर्थ-विकार के रूपों का भी बोध होता है। अनेक पारिभाषिक शब्दों, रूपकों के व्यवहार से लोक साहित्य के भाषिक अध्ययन के विविध आयाम उभरकर सामने आते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लोक साहित्य के भाषिक संदर्भ में अपना मत रखते हुए कहते हैं कि "लोकगीतों, कथाओं, गाथाओं में व्यवहृत शब्दों की निरुक्ति का पता लगाने पर भाषा-शास्त्र संबंधी अनेक गुत्थियाँ सुलझायी जा सकती हैं। इनमें प्रचलित शब्दों द्वारा हिंदी के अनेक शब्दों की विकास-परंपरा को हम वैदिक संस्कृत से जोड़ सकते हैं। बहुत से ऐसे शब्द वेद में पाये जाते हैं जो संस्कृत, प्राकृत तथा हिंदी में नहीं हैं परंतु उनका समानार्थी शब्द भोजपुरी में उपलब्ध होता है।"[13] अर्थात् किसी भी शब्द के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए लोक साहित्य पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

लोक साहित्य में प्रयुक्त देशज शब्द केवल सांस्कृतिक भावों की प्रतीति नहीं कराते अपितु उससे समाज की आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों एवं समस्याओं का भी ज्ञान होता है। लोकजीवन की दीन-हीन अवस्था के ऐसे अनेक हृदयविदारक प्रसंगों का लोकगीत, कथा, नाटक आदि में वर्णन उपलब्ध है। एक ओर सोने-चाँदी के शिल्प व आभूषणों का उल्लेख आर्थिक समृद्धि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं तो वहीं दूसरी ओर ढिबरी, चूल्हे पर पका माड़-भात, खप्पर के छत से घर के अंदर टपकता हुआ बरसात का पानी, बूढ़े शरीर द्वारा किया गया श्रम आदि ग्रामीण जीवन की आर्थिक विपन्नता के सूचक हैं। समाज के बड़े तबके द्वारा सताये जाने पर सामूहिक विद्रोह का स्वर भी लोक साहित्य में उभरकर आता है। विशेषकर ब्रिटिश सरकार के प्रति विरोध तथा अपने अधिकारों के प्रति चेतना का अभाव अशिक्षा के बावजूद लोक में मौजूद था जिसकी प्रतिध्वनि लोक साहित्य में स्पष्टतः मुखरित हुई है।

बहरहाल, लोक साहित्य के बहुआयामी स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् इस बात का भान हो जाता है कि इसका क्षेत्र-विस्तार अत्यंत व्यापक है। समूची सृष्टि के भौतिक एवं पराभौतिक तत्व लोक साहित्य की

विषयवस्तु हैं। लोक की सकर्मक एवं अकर्मक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, मनोभावों, अनुभवों आदि से लेकर जड़ जगत् के तत्व भी शामिल हैं। इस प्रकार लोक साहित्य का क्षेत्र किसी विशाल जलधि-सा विस्तृत और अथाह प्रतीत होता है। लोक साहित्य के क्षेत्र की इसी अनंतता और स्वच्छंदता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि "वह साहित्य उतना ही स्वाभाविक था जितना जंगल में खिलनेवाला फूल, उतना ही स्वच्छंद था जितना आकाश में विचरने वाली चिड़ियाँ, उतना ही सरल तथा पवित्र था जितना गंगा की निर्मल धारा। उस समय के साहित्य का जो अंश आज अवशिष्ट तथा सुरक्षित रह गया है वही हमें लोक साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है।"[14]

लोक साहित्य के समुन्नत क्षेत्र की असीमता में ज्ञान की कई अन्य शाखाएँ भी समाहित हो जाती हैं। लोक साहित्य के स्वरूप का ज्ञान होने के बाद यह अवश्य कहा जा सकता है कि लोक साहित्य का इतिहास, समाजशास्त्र, भूगोल, मनोविज्ञान, पुरातत्व विज्ञान, भाषाविज्ञान, धर्म एवं दर्शनशास्त्र आदि विषयों से अन्योन्याश्रित संबंध है। लोक साहित्य के अध्ययन के प्रारंभिक दौर में इसे 'पॉपुलर एंटिक्विटिज़' अर्थात् 'लोकप्रिय पुरातत्व सामग्री' की संज्ञा प्राप्त थी। लोक सहित्य में आदिम मानव के अवशेष संबंधी अनेक तथ्यों का उद्घाटित होना पुरातत्व संबंधी नामकरण का प्रमुख आधार है। इसके माध्यम से कई ऐतिहासिक घटनाओं तथा सूचनाओं की पुष्टि होने के साथ ही पुरातात्विक अध्ययन के क्षेत्र विस्तार हेतु कच्ची सामग्री भी प्राप्त होती है। लोक साहित्य में वर्णनात्मक अभिव्यक्ति से लोक-जीवन तथा लोक-समाज के इतिहास का आभास मिलता है। किसी भी जाति-समुदाय के मूलस्थान, विस्थापन, पलायन आदि के कारणों के अतिरिक्त उनके जीवन से जुड़ी सच्ची घटनाओं, सामाजिक परिस्थितियों का वृत्तांत लोककथाओं, गाथाओं में उल्लिखित है। ऐसे प्रकरणों के विवरण से कई ऐतिहासिक प्रश्नों के निष्कर्ष की प्राप्ति संभव हो पाती है। लोक में प्रचलित अनेक विश्वास, रीति-रिवाज तथा कर्मकांडों से धर्म संबंधी दर्शन तथा मूल्यों का अभिप्रेत होता है। धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विविध पहलुओं, सिद्धांतों की आधारशिला लोक साहित्य से संबद्ध है। भौगोलिक अथवा प्रादेशिक सीमा को समझने के लिए लोक साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। लोक साहित्य में गाँवों, नगरों, प्रदेशों, दुर्गम स्थलों, पर्वत-पत्थरों आदि के पौराणिक नामकरण तथा उससे संबंधित रहस्यमयी तथ्यों के संकेत मिलते हैं। इन गुप्त संकेतों के आधार पर अतीत से वर्तमान तक की सम्पूर्ण यात्रा में हुए परिवर्तनों के तथ्यपरक अध्ययन में आसानी होती है। लोक साहित्य में मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों का यथार्थपरक वर्णन मिलता है। पाश्चात्य विद्वान विल्हेम्स वुंट ने लोक साहित्य के अध्ययन हेतु मनोवैज्ञानिक संप्रदाय की स्थापना कर लोक

के भावात्मक विचारों, विश्वासों की व्याख्या तथा मानसिक अंतर्द्वंद्व के सटीक विश्लेषण हेतु दिशा प्रदान की। इससे लोक साहित्य और मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष संबंध दृष्टिगोचर होता है। मंत्र साहित्य लोक साहित्य का अभिन्न अंग है। झाड़-फूँक, जादू-टोना, औषधीय वनस्पतियों के प्रयोग से लोक में रोग-व्याधि से निराकरण होता है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में प्रयुक्त शल्य-चिकित्सा तथा दवाइयों की उपयोगिता पर ग़ौर करें तो यह देखा जाता है कि इसका संबंध आयुर्विज्ञान से है। इस संदर्भ में डॉ० सत्येंद्र की उक्ति ध्यान देने योग्य है- "इस विज्ञान का वास्तविक मूल लोकवार्ता में ही है। प्रत्येक क्षेत्र के विविध रोगों को दूर करने की एक लोकवार्ता तो होती ही है जिसमें झाड़-फूँक, टोने-टोटके सम्मिलित हैं, वरन् वैद्य और डॉक्टर जिन औषधियों आदि का उपयोग करते हैं, उनकी भी एक वार्ता खड़ी हो जाती है। वस्तुतः लोकवार्ता चिकित्सा-विज्ञान की पूर्वज मानी जा सकती है।"[15] सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो लोक साहित्य का क्षेत्र अथाह सागर की तरह विशाल है जिसमें प्राकृतिक तत्वों से लेकर मानव जीवन के विविध प्रसंगों तथा भावनात्मक विचारों का प्रवाह होता है।

संदर्भ सूची-

1. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या. 16
2. विद्या चौहान, लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या. 13
3. वही, पृष्ठ संख्या. 15
4. वही, पृष्ठ संख्या. 15
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृष्ठ संख्या. 206
6. सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या. 15-16
7. (सं.) धीरेंद्र वर्मा, लोक साहित्य कोष: भाग-१, पृष्ठ संख्या. 753
8. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या. 25
9. श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य, पृष्ठ संख्या. 22
10. (सं.) राहुल सांकृत्यायन तथा कृष्णदेव उपाध्याय, हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-16, पृष्ठ संख्या. 16
11. सत्येन्द्र, ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ संख्या. 05
12. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या. 264
13. वही, पृष्ठ संख्या. 257-258
14. (सं.) राहुल सांकृत्यायन तथा कृष्णदेव उपाध्याय, हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-16, पृष्ठ संख्या. 15
15. सत्येंद्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या. 74

2.3 लोक साहित्य की विविध विधाएँ

लोक साहित्य में मानव-मन की अनुभूतियों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, हृदय के उद्गारों का सजीव, सहज और स्वच्छंद प्रवाह होता है। इस सामान्य जन के साहित्य में अभिव्यक्ति की कई धाराएँ प्रचलित हैं। आदिम जन से लेकर शिष्ट साहित्य तक का मार्गदर्शन करने वाली समष्टिगत जीवन की अभिव्यक्ति लोक साहित्य के अंतर्गत आती है। लोक साहित्य की विषय-विविधता और व्यापकता के कारण लोक कलाकार विविध कथ्य-शैलियों में उसे अभिव्यक्त करते हैं। इनमें लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकोक्ति साहित्य, मंत्र साहित्य आदि प्रमुख हैं। हालाँकि लोक साहित्य की सभी विधाओं में लोक जीवन की प्रतिच्छवि को ही रेखांकित किया गया है परन्तु कथ्य-शैली की विविधता के कारण यह अलग-अलग वर्गों में विभाजित है। अधिकांशतः विद्वानों ने अध्ययन की सुविधा हेतु लोक साहित्य को कुल पाँच भागों में विभाजित किया है-

1. लोकगीत (*Folksong*)
2. लोककथा (*Folk tales*)
3. लोकगाथा (*Ballad*)
4. लोक नाट्य (*Folk drama*)
5. लोक सुभाषित (*Folk sayings*)

कतिपय विद्वान 'लोक सुभाषित' के स्थान पर 'प्रकीर्ण साहित्य' अथवा 'लोकोक्ति साहित्य' नाम को स्वीकारते हैं। और, इसके अंतर्गत कहावत, मुहावरे, पहेलियाँ, ढकोसला, बच्चों के पालने के गीत, खेल-कूद के गीत तथा नीतिपरक सूक्तियों को स्थान देते हैं। कुछ विद्वान लैंगिक भेद के आधार पर भी लोक साहित्य का गद्यात्मक एवं पद्यात्मक विधा के रूप में विभाजन करते हैं। बहरहाल, लोक साहित्य की प्रमुख पाँच विधाओं का परिचय यहाँ प्रस्तुत है-

* *लोकगीत*

लोक साहित्य में पद्यात्मक विधा के रूप में लोकगीत तथा गद्यात्मक अभिव्यक्ति हेतु लोककथाओं को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त है। लोकगीत में अर्थपूर्ण शब्दों तथा संगीत का समाहार होने के कारण इसमें मानव हृदय को सहज आकर्षित करने का सामर्थ्य होता है। यह किसी भी विशेष व्यक्तित्व से रहित एक ऐसा

नवीन कलात्मक सृजन है जिसमें लोक के सामूहिक व्यक्तित्व का उभार तथा समस्त अनुभूतियों, भावावेश का लयात्मक वर्णन होता है। डॉ० सत्येन्द्र लोकगीत के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि "लोकगीत वस्तुतः वही हो सकता है, जिसमें रचयिता का निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्वहीन रचना करता है कि समस्त लोक व्यक्तित्व ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह लोक का अपना गीत होता है और परंपरा उसमें समय-समय पर अनुकूल परिवर्तन करती रहती है।"[1] लोकगीत में लोक संस्कृति की पूरी छवि प्रस्फुटित होती है। पृथ्वी के सभी तत्व, मानव जीवन के सभी राग-द्वेष, मिलन-विरह आदि संवेदनात्मक भावों के अतिरिक्त विभिन्न मांगलिक अनुष्ठानों, जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों तथा अन्य सभी क्रियाओं से संबंधित लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत के भाव-संसार में समाहित होते हैं। स्त्री-पुरुष द्वारा सामूहिक रूप से संगीतपूर्ण अभिव्यक्ति होने के कारण लोकगीत अति लोकरंजक होते हैं। कुछ लोकगीत केवल पुरुषों द्वारा ही गाये जाते हैं तथा कुछ गीत अपौरुषेय होते हैं। ऐसे गीतों को महिलाएँ विभिन्न संस्कारों, अनुष्ठानों में गाती हैं। नारी हृदय के ये गान उनके व्यक्तिगत मनोभावों, मंगल कामना, विरह-वेदना आदि भावों से संपृक्त होते हैं। लोकगीतों में बच्चों से संबंधित गीत भी प्रचलित हैं। शिक्षाप्रद भावों तथा कल्पना का अद्भुत समावेश होने से इन लोकगीतों में बाल मनोविज्ञान का सटीक चित्रण प्रस्तुत होता है। विद्वानों द्वारा दी गयी लोकगीत की कुछ परिभाषाएँ यहाँ दृष्टव्य हैं-

- ग्रीम के अनुसार, "A folksong composes itself."[2]
- वी. विलियम्स राल्फ कहते हैं कि "A folksong is neither new nor old. It is like a forest tree with its roots deeply burried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits."[3]
- डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरालंकार होकर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं है अपने आप में परिपूर्ण हैं।"[4]

- पं. रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार " ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है। छंद नहीं, केवल लय है। लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। ग्रामीण मनुष्य के, स्त्री-पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे गीत ही ग्रामगीत हैं।"[5]

लोकगीतों के माध्यम से मानव सभ्यता के प्राचीन अवशेषों को जाना जा सकता है। अंचल विशेष अथवा समुदाय विशेष के अनुकूल लोकगीतों में कुछ ऐसे उत्कृष्ट उपमानों के उदाहरण देखे जाते हैं जिससे जातीय तत्वों को पहचान मिलती है। प्रकृति के अनुकूल स्वयं को ढालने के क्रम में मनुष्य के मनोजगत में अनेक परिवर्तन होते हैं। ऐसे में नाना लोकाचार, मान्यताएँ और विश्वास जीवन-शैली के अनिवार्य सोपानों में तब्दील होने लगते हैं। परिस्थितियों के अनुरूप मानव मन कभी अपार हर्ष तो कभी दुःख की बदरी में घिर जाता है। ऐसे क्षण में मानव में भावावेग की उन्मुक्त धाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं जिसकी शब्दबद्ध और रागात्मक अभिव्यक्ति लोकगीतों के जरिये होती है। लोकगीतों में स्वच्छंद भावावेग के प्रवाह में कुछ रचनात्मक रूढ़ियाँ भी प्रकाश में आती हैं जिनका आधार लोकविश्वास है। अक्सर लोकगीतों में एक, तीन, पाँच, सात आदि अयुग्म संख्याओं का उल्लेख मिलता है। इन्हें मांगलिक संख्या माना जाता है। रंगों में लाल और पीले रंग को अत्यंत शुभ मानकर उसके व्यवहार का जिक्र यथास्थान मिलता है। इसी तरह से कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति, प्रश्नोत्तरी शैली में गीत की रचना, कथ्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना आदि रूढ़िगत शैलियों का प्रचलन लोकगीतों में व्याप्त है जिससे इन गीतों की अतिरंजकता, रोचकता एवं विशिष्टता बढ़ जाती है। लोकगीत के स्वरूप की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ दृष्टव्य हैं-

- लोकगीतों की कथावस्तु नितांत मौलिक और निजी होती है तथा इनका वाचिक रूप में दीर्घकाल तक प्रचलन रहता है।

- लोक के सभी विश्वासों, धार्मिक मान्यताओं, रूढ़ियों, अनुभवों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचालन होता है।

- लोकगीतों का स्वरूप स्थिर न होकर सतत परिवर्तनशील होता है। लोकगीत लोक को अनुरंजित करने के साथ ही उपदेशात्मक प्रवृत्ति के होते हैं। जनवादी दृष्टि से ओत-प्रोत ये गीत मानवीय कर्तव्यों की प्रेरणा देते हैं।

- लोकगीतों के रचनाकाल का सटीक अनुमान लगाना असंभव है। सामूहिक भावभूमि पर रचे गये इन गीतों का तादात्म्य लोक के सम्पूर्ण ज्ञान और अनुभव से है। इसमें कोई एक व्यक्ति किसी रचना की चंद पंक्तियाँ रचकर आगे बढ़ता है और फिर प्रचलन के क्रम में उसमें और कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं।

- लोकगीत सहज, स्वच्छंद और कृत्रिम होते हैं। लोकभावना की अभिव्यक्ति हेतु शास्त्रोक्त नियमों, छंद और अलंकारों के साज-सज्जा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

- इनमें रसात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही रोचकता और लयात्मकता हेतु कुछ शब्दों अथवा वाक्यों की बार-बार आवृत्ति की जाती है। देशज बिंब, प्रतीक तथा भाषा-शैली इन गीतों की एक प्रमुख विशेषता है।

लोकगीतों के अभिव्यक्ति पक्ष में व्याप्त विविधता के अनुरूप विद्वानों ने लोकगीतों को अपने-अपने तर्ज़ पर विभक्त किया है। इनमें से कुछ प्रमुख हैं-

- डॉ० सत्येन्द्र ने 'लोक-वाणी-विलास' को कुल नौ भागों में विभाजित किया है: "धर्म गाथा, परी कथा, लोक-कहानी, अवदान, दन्त-कथा, तंत्राख्यान, लोक-गीत, लोक-गाथा, लोकोक्ति।"[6]

- पं. रामनरेश त्रिपाठी ने ग्रामगीतों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया है: "संस्कार-संबंधी गीत, चक्की और चरखे के गीत, धर्मगीत-त्योहारों पर गाये जाने वाले गीत-भजन आदि, ऋतु संबंधी गीत, खेती के गीत, भिखमंगों के गीत, मेले के गीत, भिन्न जातियों के गीत, वीरगाथा, गीतकथा, अनुभव के वचन।"[7]

- डॉ० श्याम परमार लोकगीत को कुल पाँच आधारों पर विभाजित करते हैं: "जातियों की दृष्टि से, संस्कारों और प्रथाओं की दृष्टि से, धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, कार्य के संबंध की दृष्टि से, रस-सृष्टि की दृष्टि से।"[8] इनसे मिलती जुलती दृष्टि कृष्णदेव उपाध्याय की भी है: "संस्कारों की दृष्टि से, रसानुभूति की प्रणाली से, ऋतुओं और व्रतों के क्रम से, विभिन्न जातियों के प्रकार से, क्रिया-गीत की दृष्टि से"[9]

  अध्ययन की सुविधा हेतु लोकगीतों को यहाँ निम्न भागों में श्रेणीबद्ध किया जा रहा है-

1. *संस्कार गीत:* एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन काल के विविध चरणों जैसे: जन्म, नामकरण, मुंडन, उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि से अनेक धार्मिक नीति-निर्देश, मान्यताएँ, विश्वास आदि जुड़े हुए होते हैं। इन्हें संस्कारगत नियम कह सकते हैं। ऐसे अवसरों पर आयोजित अनुष्ठानों में भिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों के दौरान जन समाज में जिन गीतों का प्रचलन होता है वे ही संस्कारगत गीत कहे जाते हैं। जैसे: सोहर, तिलक के गीत, माड़ो के गीत, डमकच गीत, सिंदूरदान-गीत, विदाई के गीत, गौना के गीत आदि प्रमुख हैं।

2. *ऋतु संबंधी गीत:* साल भर में विविध ऋतुओं के आवागमन के दौरान प्रकृति में तमाम तरह के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकृति के सबसे निकटवर्ती लोक के मन पर इन परिवर्तनों का सीधा असर पड़ता है। वसंत ऋतु में प्रकृति की हरियाली, पेड़-पौधों में नये कोंपलों का फूटना, वर्षा से परिपूर्ण जलाशय आदि को देखकर मानव मन में प्रेम का उद्गार होता है। तो वहीं पतझड़ को देख कर विरह का भाव जागृत होने लगता है। इसका सीधा वर्णन बारहमासा के गीतों में सहज दृष्टव्य होता है। जैसे: सावन के गीत, चैता, फगुआ, आषाढ़िया झुमुर आदि।

3. *व्रत संबंधी गीत:* इसके अंतर्गत विभिन्न धार्मिक पर्व-त्योहारों में प्रचलित गीतों का समावेश होता है। इन गीतों में ईश्वरीय प्रेम, श्रद्धा, लीला का वर्णन आदि करते हुए परिवार तथा समाज के कल्याण की भावना निहित होती है। व्रत संबंधी गीतों के अंतर्गत छठ के गीत, देवी दुर्गा, शीतला, मनसा, काली की भक्ति में प्रचलित लोकगीत, करम पूजा के गीत आदि प्रमुख रूप से आते हैं।

4. *जाति संबंधी गीत:* इससे तात्पर्य उन लोकगीतों से है जो समाज की किसी भी जाति अथवा आदिवासी समुदाय विशेष के जनमानस में प्रचलित होते हैं। उनका किसी अन्य समाज से तादात्म्य नहीं होता। ऐसे गीतों में किसी जाति विशेष का इतिहास बोध, सामाजिक व्यवस्था, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं मूल्यों की अभिव्यंजना होती है। इसके अतिरिक्त इसमें जातिभेद पर आधारित गीतों का समावेश करना भी अनुचित नहीं होगा। उदाहरणत: अहीरों के गीत, ग्वालों के गीत, चाय जनगोष्ठी के गीत, राभा गीत, तिवा गीत, मुंडा गीत आदि।

5. *श्रमगीत:* मानव जीवन के विविध कार्य-व्यापारों से संबंधित गीत जिन्हें परिश्रम के दौरान थकान के एहसास को भूलाने, ऊर्जा के संतुलन तथा कार्य में लगनशील होने हेतु गाया जाता है। भारत कृषि

प्रधान राष्ट्र होने के कारण यहाँ प्रचलित अधिकतर श्रमगीत कृषि कार्य से संबद्ध हैं। जैसे: रोपनी के गीत, बुवाई, कटाई आदि से संबंधित लोक प्रचलित गीत।

6. *विविध गीत:* विशेषकर मनोरंजन प्रधान गीत, हास्य-विनोद, गाली-गलौज के गीत, विरह गीत, आदि सभी इन विविध विषयक लोकगीतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा: लोरी, बिरहा, बिदेशिया, स्वाँग, ख्याल तथा अन्य क्रीड़ा-गीत आदि।

* *लोककथा*

लोक में मनोरंजन, रोमांच, ज्ञानवर्द्धन, नैतिक मूल्यों के उत्थान हेतु कुछ कथाएँ सुनी-सुनायी जाती हैं। इन कथाओं के मूल में लोकानुभव, लोक की संवेदना, विश्वास, आस्थाएँ, जिज्ञासा, कौतूहल आदि भाव जुड़े हुए हैं। लोक परिवेश को कथा की पृष्ठभूमि बनाकर घटनाओं, क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से ज्ञानवर्द्धन करने का प्रयास किया जाता है। लोककथाएँ परंपरागत रूप से दीर्घकाल तक लोक में गमन करती हैं। मौखिक अभिव्यक्ति तथा मौखिक प्रचलन के माध्यम से ये कथाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत में प्राप्त होती हैं। लोक कथाओं में सामाजिक, धार्मिक भावों के अतिरिक्त कल्पना की भी प्रधानता रहती है। डॉ० सत्या गुप्त लोककथाओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि "लोककथाओं में लोक-मानव की सब प्रकार की भावनाएँ तथा जीवन-दर्शन समाहित हैं। भूत जानने की जिज्ञासा, घटनाओं का सूत्र, कोमल व परूष भावनाएँ, सामाजिक-ऐतिहासिक परंपराएँ, जीवन-दर्शन के सूत्र सभी कुछ लोककथा में मिल जाते हैं।"[10] स्वरूप की विशिष्टता के आधार पर लोककथा की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

- डॉ० सत्येन्द्र कहते हैं कि "जिसके साथ परम्परा जुड़ी हुई है और लोकमानस का तत्व जिसमें विशेष हो, वह लोक-कथा कही जएगी। ऐसी लोक-कथा का बहुधा किसी-न-किसी रूप में धर्मगाथा या पुराण-कथा से संबंध होता है।"[11]

- डॉ० कुंदन लाल उप्रेती का मानना है कि "वास्तव में कथा की ऐसी मौखिक परंपरा जिसमें लोकमानस के तत्व विशेष रूप से विद्यमान हों और जिनका उद्देश्य जन-मनोरंजन के अतिरिक्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ज्ञानवर्धन भी हो, वही हमारी दृष्टि में लोककथा है।"[12]

लोककथाओं का उत्स परंपरा है किन्तु इसकी उत्पत्ति के संदर्भ में मतभिन्नता रही है। कुछ विद्वान लोककथाओं की उत्पत्ति प्रकृति के रूप और घटनाओं के बनिस्पत मानते हैं। मानव ने प्राकृतिक तत्वों तथा भिन्न घटनाओं के अनुभव को कल्पना का आधार बनाकर लोककथाओं की रचना-प्रक्रिया प्रारंभ की तो वहीं प्रसारवादियों ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर कथाओं के प्रसार से लोककथा का विकास मानते हैं। जैसे भाषा स्थानांतरित होकर फैलती जाती है ठीक उसी प्रकार लोककथाएँ भी प्रसारित होती हैं, इसकी उत्पत्ति का अनुमान लगा पाना असंभव है। मनोविश्लेषणवाद के समर्थक फ्रायड लोककथाओं के रूपकों का आधार प्राकृतिक घटनाओं को न मानकर यौन-इच्छाओं व प्रवृत्तियों को मानते हैं। लोककथाओं की उत्पत्ति दमित कामवासना की अभिव्यक्ति का प्रतिफलन है। टाइलर, विकासवादी सिद्धांत के अनुरूप लोककथाओं की उत्पत्ति का आधार लोक की आधारभूत मानसिक समानता (psychical unity of mankind) मानते हैं। चिंतन और भावोद्बोधन की इसी आधारभूत समानता के कारण लोककथाओं की मूल कथावस्तु में समानता दिखायी देती है। यह बात अवश्य है कि लोककथाओं की पृष्ठभूमि, लोक की संस्कृति और संस्कार में परस्पर भिन्नता व्याप्त है। मौखिक प्रसार के कारण लोक द्वारा परिवेश के अनुकूल इन कथाओं में निरंतर परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा है। लोककथाओं की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- लोककथाओं में लोक जीवन का शाश्वत सत्य अभिव्यंजित होता है। इनमें मानव जीवन के हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, इच्छाएँ, कुंठा, अवसाद, लोभ-मोह आदि सभी भावनाएँ सपष्टतः वर्णित होती हैं।

- लोककथाओं में श्रृंगार, वात्सल्य, अद्भुत, हास्य आदि रसों की प्रधानता होती है। माता-संतान, भाई-बहन के प्रेम में जहाँ एक ओर वात्सल्य की सरिता प्रवाहित होती है दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष की अभिव्यक्ति, त्याग और समर्पण से प्रेम की पराकाष्ठा सिद्ध होती है।

- इनमें अश्लीलता का सर्वथा अभाव होता है। लोकमानस लौकिक तथा अलौकिक जगत् के तत्वों से रूपकों को लेकर रहस्यात्मक व रोमांचक कथाओं की रचना करता है। इसीलिए लोककथाओं में प्रत्यक्ष के साथ-साथ अप्रत्यक्ष तत्वों जैसे: परी, भूत-प्रेत, दानव आदि की उपस्थिति श्रोता को आनंदित करती है।

- लोककथाओं में उत्सुकता और कौतूहलपूर्ण व्यवहार के कारण इनका आकर्षण सामान्य कहानियों से कहीं अधिक होता है। इसमें परवर्ती घटनाओं की जानकारी हेतु श्रोतागण सदैव जिज्ञासु बने रहते हैं।

- लोककथाओं में मनोरंजन के साथ ही लोक-कल्याण की भावना निहित होती है। कथाओं का अंत शुभाशीष के साथ होता है- 'जैसे उसके दिन फिरे वैसे सभी के हो'। अर्थात् लोककथाएँ सुखांत होती हैं।

- इनमें लोक का पूर्ण यथार्थ चित्रांकित होता है। लोक कल्पना के अतिशय वर्णन से हमेशा परहेज़ करता है।

- इसकी कथ्य शैली नितांत व्यावहारिक होती है। दैनिक व्यवहार के शब्दों, देशज उपमानों से सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोककथाओं की एक प्रमुख विशेषता है। कथावस्तु में कहावतों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा में विशेष बल और आकर्षण आता है।

लोककथाओं के प्राचीन वर्गीकरण में इन्हें दो प्रमुख भागों में बाँटा गया है: पहली, वे लोककथाएँ जो कल्पना के उद्वेग से रचित होती हैं तथा दूसरी श्रेणी की लोककथाएँ आख्यायिका कहलाती हैं। इनका आधार ऐतिहासिक घटना का इतिवृतात्मक वर्णन है। इसके बाद कतिपय विद्वानों ने लोककथाओं का स्थूल वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अध्ययन की सुविधानुसार लोककथाओं को विषयगत आधार पर कुल आठ भागों में विभक्त किया गया है। यथा-

1. *उपदेशात्मक कथाएँ:* इन लोककथाओं के माध्यम से नीति-शिक्षा तथा जीवन के मूल्यों को स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। पशु-पक्षियों के द्वारा जीवन की घटनाओं से शिक्षा और प्रेरणा लेने का प्रयास होता है। विशेषकर पंचतंत्र की कहानियों में जीवनादर्श तथा उपदेश देने की प्रवृत्ति दिखायी देती है।

2. *पौराणिक कथाएँ:* इनमें सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्राकृतिक तत्वों के निरूपण जैसे: वर्षा, ऋतु-परिवर्तन आदि के कारणों को काल्पनिक अभिव्यक्ति देकर गंभीर एवं रहस्यात्मक तथ्यों को सुलझाने का प्रयास निहित रहता है।

3. *धार्मिक कथाएँ:* व्रत तथा अन्य मांगलिक उत्सवों, संस्कारगत अनुष्ठानों में देवी-देवताओं के आह्वान में अनेक कथाएँ प्रचलित होती हैं। ऐसा लोकविश्वास है कि ये कथाएँ सुनने और सुनाने वालों का कल्याण साधती हैं। जैसे: सत्यनारायण की कथा, शिव-पार्वती कथा, करम कथा आदि।

4. *प्रेमपरक कथाएँ:* इन कथाओं में प्रेम का आदर्श रूप प्रस्तुत होता है। पारिवारिक प्रेम की सहज, सुन्दर और स्वाभाविक छवि लोककथाओं में मौजूद है। त्याग, समर्पण, सतीत्व आदि भावों से संपृक्त इन कथाओं में कहीं भी अश्लीलता का स्पर्श नहीं दिखता है।

5. *सामाजिक कथाएँ:* सामाजिक स्थिति, भिन्न प्रथाएँ, रीति-नीति, जाति-भेद, वर्ग संघर्ष आदि पहलुओं का चित्रण सामाजिक लोककथाओं की विषयवस्तु है। इन कथाओं में सामाजिक समस्याओं के संधान और उनके समाधान पर विशेष बल दिया जाता है।

6. *मनोरंजन प्रधान कथाएँ:* अप्राकृतिक तथा रहस्यात्मक वस्तुओं जैसे: भूत-प्रेत, डायन, चुड़ैल, राक्षस आदि के द्वारा कल्पनात्मक, चमत्कारप्रिय, कौतूहलपूर्ण तथा मनोरंजक वर्णन इन कथाओं में उपलब्ध है। इनमें कुछ कथाएँ बाल-मनोविज्ञान से जुड़ी होती हैं।

7. *वीर कथाएँ:* ऐतिहासिक वीरों के त्याग, साहस और पराक्रम का यशगान वीर कथाओं का मूल उद्देश्य है। इन कथाओं के जरिये जनमानस में बलिदान, साहस और देशभक्ति की भावना का संचार किया जाता है।

8. *प्रकीर्ण कथाएँ:* इसके अंतर्गत विविध विषयों से संबंधित कथाओं को स्थान दिया गया है। जैसे: हास्य-व्यंग्य प्रधान कथाएँ, पशु-पक्षियों से संबंधित कथाएँ, साधु-संतों, पीर बाबाओं द्वारा सुनाये जाने वाले चामत्कारिक वर्णन संबंधी कथाएँ आदि।

* *लोकगाथा*

संक्षिप्त अर्थ में लोकगाथा का तात्पर्य लोकगीत और कथा के समन्वित रूप से समझना चाहिए। अर्थात् लोकगाथा लोक कंठ द्वारा उद्भूत ऐसे गीत होते हैं जिनमें किसी कथा के आधार पर अभिव्यक्ति की जाती है। लोकगाथा के लिए अंग्रेजी में *Ballad* शब्द प्रचलित है जो मूलतः लैटिन शब्द 'बेलोर' से निष्पन्न है। इसका अर्थ है- नाचना। दरअसल, लोकगाथा महाकाव्य की तरह आकर में लम्बे, विस्तृत और प्रबंधात्मक शैली में

रचित होते हैं जिसे नृत्य के साथ गाने की परंपरा रही है। किन्तु आजकल इसमें से नृत्य कला का बहुत हद तक लोप हो गया है। लोकजीवन के संघर्ष, रहस्य, प्रेम, श्रृंगार, लोक समाज के वीर योद्धाओं के साहस, त्याग का वर्णन लोकगाथाओं की विषयवस्तु हैं। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय का मत है कि "इसमें संदेह नहीं कि इन गाथाओं में भी प्रेम का पुट गहरा रहता है लेकिन यह प्रेम जीवन-संग्राम में अनेक संघर्षों का सामना करता हुआ अंत में सफलीभूत होता हुआ दिखलाया गया है। इन लोकगाथाओं में युद्ध, वीरता, साहस, रहस्य और रोमांच का पुट अधिक पाया जाता है।"[13] लोकगाथाओं में सम्पूर्ण कथा को एक ही सूत्र में लयबद्ध किया जाता है। अलग-अलग पात्रों व घटनाओं को क्रमबद्ध तरीके से संयोजन और प्रस्तुतिकरण की शैली लोकगाथाओं की विशिष्टता है। यही कारण है कि लोकगाथाओं को गाना एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है। लगातार दो-तीन दिन तक एक कथा का लयात्मक वाचन चलता रहता है। वैसे तो लोकगाथाएँ मौखिक रूप में ही अधिक प्रचलित हैं लेकिन संरक्षण करने के उद्देश्य से इनमें से कुछ को लिपिबद्ध किया जा चुका है। लिखित रूप में ये गाथाएँ गद्यात्मक ही प्रतीत होती हैं। अतः लोक के विश्वासों, अनुभवों की महाकाव्यात्मक अभिव्यक्ति का गीतात्मक रूप ही लोकगाथा है। इसके विषयवस्तु में स्थानीयता के आधार पर कमोबेश समानता और असमानता व्याप्त है। जोजेफ टी. शिप्ले के मतानुसार 'बैलेड' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है- "(१.) साहित्य के क्षेत्र में सीमित और विशिष्ट अर्थ में बैलेड मुख्यतः एक लघु कथात्मक और प्रगीतात्मक काव्य का नाम है (२.) सामान्य अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किसी भी ऐसे लघु गीत के लिए होता है, जो हमारी भावात्मक सत्ता का स्पर्श करता है (३.) संगीत के क्षेत्र में भी बैलेड का प्रयोग होता है, जो एकाकी वाद्य सहित या समवेत किसी भी प्रकार का होता है, अथवा जो नृत्य के साथ गाया जाता है।"[14] कतिपय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित लोकगाथा की कुछ परिभाषाएँ दृष्टव्य हैं-

- Prof. G.L. Kittredge, "A ballad is a song that tells a story or to take the other point of view- a story told in song."[15]
- Robert Groves, "A poem meant for singing, quite impersonal in material probably connected in its origin with the communal dance. But submitted of oral tradition among people who are free from literary influences and fairly monogenous in character."[16]

- "A Ballad is a simple narrative lyric, a song of known or unknown origin that tells a story."[17]

- कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, "लोकगाथा वे प्रबंधात्मक लोक गीत हैं जो आकार में किसी महाकव्य को चुनौती दे सकते हैं और जिनमें प्रधान तत्व कथा है।"[18]

- डॉ० शंभुनाथ सिंह का मत है कि "लोकगाथा मानव समाज का आदिम साहित्यिक रूप है। मानव जब कबीलों में रहता था, तब उसकी सामाजिक मनोभाव की अभिव्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीत के रूप में होती थी। देवी-देवताओं या पूर्वपुरुषों या टोटेम की कल्पना उदित होने पर उनसे संबंधित आख्यान भी उन नृत्य-गीतों के वर्ण्य-विषय बन गए हैं।"[19]

वस्तुतः लोकगीत और लोकगाथा में मूल अंतर इनके आकार और अंतर्वस्तु से स्पष्टतः समझा जा सकता है। लोकगाथा लोकगीतों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं प्रबंधात्मक होते हैं। जहाँ एक ओर लोकगीतों में संगीतात्मकता को प्रधानता दी जाती है वहीं लोकगाथाओं में कथा को अधिक वरीयता प्राप्त है। मौखिक रूप में प्रचलित होने के कारण लोकगाथाओं की उत्पत्ति विवादास्पद है। पाश्चात्य विद्वानों ने लोकसाहित्य की इस विधा की उत्पत्ति के संदर्भ में भिन्न मत प्रेषित किया है। पहला, ग्रिम द्वारा प्रतिपादित *समुदायवाद* का सिद्धांत: लोकगाथाओं की रचना किसी व्यक्ति विशेष द्वारा न होकर समूचे समुदाय के द्वारा होती है। लोक प्राचीन घटनाओं तथा अपने अनुभवों के आधार पर गाथाओं की रचना कर इसे विकसित और प्रचलित करता है। इस मत का खंडन करते हुए श्लेगल *व्यक्तिवादी* सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि लोकगाथाओं की रचना में एकाधिक कवियों अथवा रचनाकारों का योगदान अवश्य होता है किन्तु इसमें किसी न किसी व्यक्ति विशेष की मूल उद्भावना जरूर निहित होती है। ग्रिम के मत के समकक्ष स्टेंथल का *जातिवादी* सिद्धांत उल्लेखनीय है। वे लोकगाथाओं की उत्पत्ति में समस्त जाति की भूमिका को स्वीकार करते हैं। आदिम सभ्यता में व्यक्ति के स्थान पर समष्टि की सत्ता को अधिक महत्व दिया जाता था। अतः किसी भी लोकगाथा में सामुदायिक चेतना और अनुभूति केंद्रीय विषय होती है इसीलिए वह समूची जाति की धरोहर है। इसी क्रम में विशप पर्सी ने *चारणवाद* के सिद्धांत के माध्यम से यह स्थापित किया कि इंग्लैंड की लोकगाथाओं की उत्पत्ति चारणों अथवा भाटों द्वारा हुई जब वे ढोल-सारंगी बजाते हुए भिक्षा-याचना करते थे। अमेरिकी लोकसाहित्य के मूर्धन्य विद्वान एफ. जे. चाइल्ड लोकगाथा के संदर्भ *व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद* को महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि लोकगाथा की

रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा होकर चिरकाल तक अनेक कंठों के माध्यम से संवाहित होकर गमन करती है। इस दौरान उसमें इतने परिवर्तन होते हैं कि मूल रचना के रचनाकार का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाता है। अर्थात् मूलभाव तो वही रहता है किन्तु उसमें रचनाकार का व्यक्तित्व नहीं झलकता। इसीलिए लोकगाथा एक व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवादी रचना है। इन सभी मतों का समन्वित रूप हमें भारतीय लोक मर्मज्ञ डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के सिद्धांत में प्राप्त होता है। उनके *समन्वयवादी* सिद्धांत के अनुसार "प्रत्येक गीत या गाथा का रचयिता कोई न कोई व्यक्ति अवश्य है साथ ही कुछ गीत या गाथा जनसमुदाय का भी प्रयास हो सकता है। लोकगाथा की परंपरा सदा से मौखिक रही है। अतः यह बहुत संभव है कि गाथाओं के रचयिताओं का नाम लुप्त हो गया हो।"[20] लोकगाथा की अवधारणा, स्वरूप एवं उत्पत्तिमूलक सिद्धांतों पर विचार करके इसकी निम्न विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है-

- लोकगाथा प्रबंधात्मक शैली में रचित होते हैं। इसका आकार अधिक विस्तृत होता है। गीत की भाँति लयबद्धता के बावजूद लोकगाथा कथा-प्रधान होती है।
- लोकगाथा में मूलतः गीत और नृत्य का सामंजस्य होता है।
- इसका प्रचलन वाचिक रूप में होने के कारण लोकगाथाओं का स्वरूप स्थायी नहीं रहता। तमाम परिवर्तनों के बनिस्पत लोकगाथाओं के रचनाकार का व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है।
- लोकगाथा का कथानक अत्यंत लंबा होता है। इसीलिए इसे गाकर समाप्त करना एक दिन में संभव नहीं है।
- लोकगाथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और मूलपाठ सदैव संदिग्ध रहता है। इसकी प्रामाणिकता को सत्यापित नहीं किया जा सकता।
- ऐतिहासिक रहस्यों, रोमांच, संघर्ष तथा युद्ध को भिन्न पात्र-योजना के सहारे लोकगाथा में वर्णित किया जाता है।
- लोकगाथा में स्थानीयता और जातीयता के पुट शामिल होते हैं। यह स्थान और काल का सूचक होता है। लोकगाथा की एक विशिष्टता यह भी है कि कथानक में एकरूपता होने के बावजूद किसी अंचल विशेष की स्थानीयता को शीघ्र ही ग्रहण कर लेती है।

लोकगाथाएँ किसी भी जाति-समुदाय के विकास का परत-दर-परत चित्रण प्रस्तुत करती हैं। इसीलिए इसकी विषयवस्तु अत्यंत समृद्ध और विस्तृत है। जीवन के विविध प्रसंगों से जुड़े कथानकों के समावेश के कारण विद्वानों ने इसका अलग-अलग तरीके से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। प्रो. किटरेज ने लोकगाथा को दो भागों में बाँटा है: पहला, 'चारण गाथाएँ' और दूसरा, चिरप्रचलित 'परंपरागत गाथाएँ'। प्रो. गूमर लोकगाथा को विषय-विविधता के आधार पर कुल छः भागों में विभाजित करते हैं-

1. *प्राचीनतम गाथाएँ*: आकाश, पृथ्वी, शीत, वसंत आदि से संबंधित गाथाएँ इसके अंतर्गत आती हैं। अनंत काल से संबंधित व अनंत काल से प्रचलित गाथाएँ प्राचीनतम गाथाएँ हैं।

2. *कौटुम्बिक गाथाएँ*: मानव से जुड़े विभिन्न रिश्ते-नाते में प्रेम, विघटन, मतभेद, ईर्ष्या आदि भावों तथा उसके जीवन में प्रभाव को कथानक का आधार बनाकर गाथाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

3. *अलौकिक गाथाएँ*: अलौकिक शक्तियों से संबद्ध गाथाएँ इस श्रेणी में आती हैं। यथा- परियों, मृत्यु, अंधविश्वास आदि भाव से संपृक्त लोकगाथाएँ प्रमुख हैं।

4. *पौराणिक गाथाएँ*: पौराणिक किंवदंतियों तथा वीरतापरक कथाओं एवं आख्यानों पर आधारित गाथाएँ जैसे: आल्हा-उदल की गाथा, नल-दमयंती की पौराणिक कथा आदि से संबंधित गाथाएँ प्रमुख हैं।

5. *सीमान्त गाथाएँ*: किसी भी राष्ट्र के सीमान्त अंचल में प्रचलित प्रबंधात्मक गीतों में युद्ध का वर्णन तथा स्थानीय ऐतिहासिक वीर लोकगाथाएँ इस श्रेणी में आती हैं। जैसे: इंग्लैण्ड-स्कॉटलैंड के सीमांत अंचलों की गाथाएं, बिरसा मुंडा, सिदू-कान्हू के स्वाधीनता संग्राम में भागीदारी की वर्णनात्मक गाथाएँ आदि।

6. *आरण्यक गाथाएँ*: अरण्य की पृष्ठभूमि में निःसहाय जनता की सहायता में किसी व्यक्ति के हिरोइज्म को लेकर प्रचलित लोकगाथाएँ आरण्यक गाथाएँ कहलाती हैं। उदाहरण के तौर पर इंग्लैंड के रोबिनहुड, चंबल घाटी के मानसिंह की कथा आदि जिसमें ये समृद्ध अथवा शोषक वर्ग को लूटकर गरीब अवाम की मदद करते हैं।

भारतीय विद्वानों में प्रमुख रूप से डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा लोकगाथाओं का श्रेणी-विभाजन उल्लेखनीय है। वे इसे तीन भागों में वर्गीकृत करते हैं: पहला, जिनमें प्रेम संबंधी घटनाओं का उल्लेख मिलता है अर्थात् *प्रेम कथात्मक गाथाएँ*। जैसे: बाला लखिंदर और बेहुला, हीर-रांझा की प्रेमगाथा आदि। दूसरा, वीररस प्रधान अर्थात् पराक्रम, वीरता, साहस की अद्भुत गाथाएँ- *वीर कथात्मक गाथाएँ*: उदा० बिरसा मुंडा, लोरिकी, आल्हा आदि की वीरता की गाथाएँ। तीसरा, *रोमांच कथात्मक गाथाएँ*-रोचकता, विलक्षणता, रहस्यपूर्ण तथा चामत्कारिक घटनाओं से परिपूर्ण गाथाएँ, जैसे: परी कथा, जादुई कथाओं को लेकर प्रचलित लोकगाथाएँ प्रमुख हैं।

* *लोक नाट्य*

लोक नाटकों का आधार लोकमानस की अनुभूतियाँ हैं। लोक नाट्य में लोक जीवन की असंख्य भावनाएँ, चेष्टाएँ, उल्लास आदि की अभिव्यक्ति मिलती है। शास्त्रीय नियमों की कृत्रिमता से उन्मुक्त इन लोक नाटकों के माध्यम से लोक परंपरा का वाचिक प्रवाह हुआ है। लोकभाषा में गीत, नृत्य और संगीत के समागम के अनुरूप लोक नाटकों की प्रस्तुति होती है। लोक नाट्य से तात्पर्य उन नाटकों से है जिसमें आम जनमानस की संवेदना, सामाजिक स्थिति, धार्मिक रूढ़ियाँ, हर्षोल्लास, कामना और आकांक्षा की प्रतिच्छवि उभरती है। लोकवाद्यों से ध्वनित संगीत, लोकगीत तथा अभिनय के माध्यम से सामान्य जनजीवन के सम्पूर्ण रेखाचित्र की मंचीय प्रस्तुति होती है। लोक द्वारा लोक के बीच इस कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से लोकमानस की कुरीतियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया जाता है। परंतु लोक नाटकों का मुख्य ध्येय तो लोक का मनोविनोद ही है। कठोर परिश्रम, कुंठा, अवसाद, चिंता आदि के परिहार हेतु अवकाश के क्षणों में लोक नाट्य सामूहिक मनोरंजन का उपयुक्त साधन है। लोक नाट्य एकांगी नहीं होता है। यह लोकजीवन से पल्लवित होकर नितांत सहज, स्वाभाविक और औपचारिकता से दूर रहता है। लोक नाट्य की प्रस्तुति हेतु किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं पड़ती अपितु जन-जीवन के बीच खुले स्थान पर अभिनय होता है। नाटकीयता और दृश्य-परिवर्तन हेतु किसी पर्दे की ज़रूरत नहीं होती। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल लोक-मंच व लोक नाट्य की सजह-स्वच्छंद प्रवृत्ति को दर्शाते हुए कहते हैं कि "न इसमें पट-परिवर्तन के प्रसाधन की अपेक्षा है, न दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता। वही चारों ओर से दर्शक-खचित मंच-पीठ राजमहल है, दीन की कुटी अथवा गृहस्थ का घर है। वहीं दूसरे ही क्षण विदेश हो गया, राजसभा, युद्धभूमि हो गयी और विरह-भूमि मिलन-मंदिर में परिणत हो गया। जैसे महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइए, त्यों-त्यों उसमें विराट जीवन की बहुरंगी प्रतिच्छवि अपने-आप

खिंचती चलती है, ठीक उसी प्रकार लोक-रंगमंच की, उसके अनौपचारिक, आग्रहहीन मंचपीठ और अंततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है। लोक-रंगमंच के दृश्य-पक्ष, उसके सम्पूर्ण वस्तुपक्ष के स्वप्न-द्रष्टा जैसे दर्शक वर्ग हैं। लोक नाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का सक्रिय अभिन्न भाग भी है- उसका संरक्षक और रसरंजक दोनों।"[21] लोक नाटकों में जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति तथा इच्छापूर्ति के संदर्भ में लेखक आगे कहते हैं "सब इतना यथार्थ, इतना यथार्थ कि सब यथार्थ का भ्रम ही उठ जाए और दर्शक उसका अविच्छिन्न अंश होकर उसमें जैसे रंगरत हो जाए। क्योंकि लोकमंच पर वह जो कुछ देख रहा है, वह सब कुछ जैसे अपनी यथार्थ प्रतिच्छवि देख रहा है और उसके जीवन की जो क्षति थी, शायद वह वहाँ पूर्ति पा रही हो।"[22] लोक नाट्य के स्वरूप संबंधी कुछ विचार यहाँ उल्लेखनीय हैं-

- श्याम परमार के अनुसार "लोकनाट्य लोक-रंजन का आडम्बरी साधन है जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का, पर विशाल जन के हर्षोल्लास से संबंधित है। ग्रामीण जनता में इसकी परंपरा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित हैं अतः लोक-नाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रूचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है उसकी आधार-भूमि यही लोकनाट्य है।"[23]

- डॉ० दशरथ ओझा कहते हैं कि "लोकनाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों, लोकविश्वासों और लोकतत्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"[24]

- डॉ० कुंदन लाल उप्रेती का मंतव्य है कि "लोकनाटक शास्त्रीय तंत्र तथा रचना-विधान से इतर लोकमानस की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसमें लोकपरम्परा तथा चिरविकसित नाट्य-रूढ़ियों का प्रदर्शन लोकमंच पर होता है। इस लोकमंच का निर्माण भी लोकमानसिक होता है जो व्यवसायार्थ न होकर अखाड़े के रूप में गली-गलियारों में विद्यमान रहता है। सभी लोकक्षेत्रों के उपादानों से निर्मित इन नाटकों का रचयिता भी लोक होता है।"[25]

लोक नाट्य में लोक की इच्छा-आकांक्षा के अतिरिक्त लोकसाहित्य की अन्य विधाएँ भी सन्निहित होती हैं। लोककथा, गीत, नृत्य, मिथक, लोकोक्ति, मुहावरे आदि लोक नाट्य के तत्व हैं। लोक नाट्य का मूल स्वरूप श्याम परमार जी के शब्दों में दृष्टव्य है "लोकविश्वास, परम्परागत मान्यताएँ, रीति-रिवाज, अभिप्राय

आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोकभाषा की संपत्ति-गीत, कथाएँ, मुहावरों और स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं। चाहे जैसा भी लोकनाट्य हो, मंच पर वह परंपरा की थाती लेकर ही अवतरित होता है। इसलिए उसे लोकविश्वास का आधार मिल जाता है। जन-सुलभ, बोधगम्य और लोकधर्मी तत्वों का उसमें पूर्णतः समावेश हुआ है। प्रायः संवादों के बीच में जहाँ भी प्रसंग आता है लोकगीत की कड़ियाँ गायी जाती हैं। इसलिए जन का नैकट्य उसे प्राप्त है।"[26] उपर्युक्त सभी विवेचनों के आधार पर लोक नाट्य की कुछ विशिष्टताओं को हम इस प्रकार देख सकते हैं-

- लोक नाट्य में लोक की भावनाओं, परम्पराओं, अनुभूतियों का कलात्मक वर्णन मिलता है। इसमें युग-सापेक्ष सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक प्रहार भी देखा जाता है।

- इसका कथानक पौराणिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक घटनाओं पर आधरित होता है। शोषक वर्ग द्वारा शोषितों पर अत्याचार, छुआ-छूत, वर्ग और वर्ण भेद, पारिवारिक विघटन आदि समस्याओं को उकेरने का प्रयास लोक नाटकों का ध्येय है। कथावस्तु में प्रेम और जिजीविषा को भी महत्व दिया जाता है।

- गीत, नृत्य और संगीत के माध्यम से कम संवादों में भी गूढ़ अर्थ का निष्पादन होता है। लोक नाट्य में अभिनय संकेतात्मक होता है। लोकवाद्यों (ढोल, मंजीरा, करताल, मादल, ढांक आदि) के द्वारा संगीत में विशिष्टता लाकर नाटक को और प्रभावी बनाने का प्रयास किया जाता है। कथा के जरिये रसानुभूति व मानसिक तृप्ति पर अधिक बल दिया जाता है।

- लोक नाट्य के पात्रों के व्यक्तित्व सामाजिक प्रवृत्तियों के सूचक होते हैं। इनके माध्यम से सामाजिक रूढ़ियाँ तथा स्थानीयता का अन्य तत्व उभरकर सामने आता है।

- यद्यपि लोक नाट्य की भाषा पद्यात्मक होती है किंतु इसमें यथास्थान स्थानीय शब्दों, लोक भाषा की शैली, मुहावरों आदि के प्रयोग से नाटक में विलक्षणता आती है।

- पर्व-त्योहारों अथवा किसी मांगलिक अनुष्ठान के अवसर पर लोक नाट्य की प्रस्तुति हेतु जन में विशेष आग्रह देखा जाता है। इसके लिए लोग किसी खुले मैदान, चबूतरे अथवा चौराहे पर एकत्रित होकर सामूहिक रूप से रस का आस्वादन करते हैं।

वैसे तो स्थान और समष्टि के आधार पर लोक नाट्यों के कथ्य और शैली में विविधता मौजूद है। मसलन मध्यप्रदेश में 'मांच', गुजरात में 'भवाई', राजस्थान में 'ख्याल', महाराष्ट्र में 'तमाशा', बिहार में 'बिदेसिया', उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी', बंगाल में 'जात्रा' तथा 'गंभीरा', दक्षिण भारत में 'यक्षगान', 'वीथि नाटकम्' आदि प्रमुख हैं। अतः लोक नाट्य की विविध शैलियों और विषयवस्तु के आधार पर इसे लोकविदों ने अलग-अलग भागों में विभाजित किया है। डॉ० श्याम परमार लोक नाट्य को दो भागों में विभक्त करते हैं: सामयिक लघु प्रहसन और मध्यरात्रि में आरम्भ होकर प्रातः काल तक चलने वाला गीति-नाट्य (रामलीला, कृष्णलीला, महाभारत आदि के प्रसंगों पर आधारित नाट्य)। तो वहीं डॉ० सत्येंद्र ने लोक नाट्य को *नृत्य प्रधान*- जैसे: रासलीला, यक्षगान आदि, *नाट्य-हास्य प्रधान*- यथा: भाँड आदि, *संगीत-प्रधान कथाबद्ध*- यथा: मांच, नौटंकी आदि और *नाट्य-वार्ता प्रधान* (संवाद के माध्यम से अभिनय किया जाता है), इन चार प्रमुख भागों में विभाजित किया है।

* *लोक सुभाषित*

लोक द्वारा अत्यंत आकर्षक और विचित्रपूर्ण ढंग से कही गयी उक्ति ही लोक सुभाषित है। लोक साहित्य की अन्य विधाएँ प्रबंधात्मक तथा विस्तृत होती हैं; परन्तु लोक सुभाषित मुक्तक तथा सीमित शब्दों में विस्तृत अभिव्यक्ति करते हैं। इनमें लोक का वाक् चातुर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। मानव जीवन के सभी क्रियाकलापों तथा पहलुओं का वर्णन लोक सुभाषितों में मिलता है। लोक की अनुभूति, मनोभाव, विचार, सामाजिक-आर्थिक-पौराणिक स्थितियों, लोकविश्वास तथा शारीरिक अंग-प्रत्यंग से लेकर प्रकृति के सभी तत्वों से संबंधित सुभाषित आम बोलचाल का हिस्सा है। ये यथास्थान समाज के नग्न यथार्थ को प्रस्तुत कर उस पर तीक्ष्ण प्रहार भी करते हैं। यही कारण है कि लोक सुभाषितों को अभिधार्थ से अधिक लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में समझा जाता है। डॉ० सत्येंद्र लोक सुभाषित के संदर्भ में कहते हैं कि "जिसमें अभिव्यक्ति का इतना विस्तार नहीं, और जिसका अभिप्राय कथा अथवा गीत की तरह किसी बात को बात के आनन्द के लिए कहने की प्रवृत्ति में कम मिलता है। किन्तु जिसमें बहुत संक्षेप में कुछ व्यवहार विषयक बातों को प्रकट करने की

प्रवृत्ति विशेष होती है। जिसमें कथा-तत्व बहुत लघु होता है अथवा नहीं भी होता है। जिसमें लय और तान या ताल न होकर संतुलित स्पंदनशीलता ही होती है। ऐसी रचनाओं को शास्त्रीय दृष्टि से मुक्तक कह सकते हैं।"[27] लोक सुभाषित लोक की अनुभूति से उत्पन्न होकर लोक प्रतिक्रिया में गहरे यथार्थ की प्रतीति कराते हैं। लोक सुभाषितों का वर्गीकरण इस प्रकार है:

- *लोकोक्ति/ कहावत*

लोक की व्यवहार-कुशलता तथा जीवन की वास्तविकता ने लोकोक्तियों को जन्म दिया है। लोक के चिरसंचित ज्ञान और अनुभव का सूत्रात्मक-घनीभूत अभिव्यक्ति लोकोक्तियों की प्रमुख विशिष्टता है। यह लोकमानस की संक्षिप्त, सारगर्भित, विदग्ध, विलक्षण तथा चातुर्यपूर्ण उक्तियाँ हैं। किसी भी कथन के समर्थन में लोकोक्तियाँ दलीलों की भाँति प्रयोग में आती हैं। इससे कही गयी बातें प्रभविष्णु और रोचक बनती हैं। जैसे- 'अधजल गगरी छलकत जाए, भरी गगरिया चुप्पे जाए', 'होनहार वीरवान के होत चिकने पात' आदि। श्याम परमार के शब्दों में "जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्वसाधारण-जन के मानस को प्रभावित करके उसके अभिव्यक्ति से संबंधित अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये ही अनुभव लोकोक्तियाँ-कहावतें हैं।"[28] लोकोक्तियाँ 'गागर में सागर' के समान हैं। लोकोक्तियों के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान सर्वेन्टीज की यह उक्ति बहुप्रचलित है *'Short sentences drawn from long experience'.* अंग्रेजी में इसके लिए 'Proverb' शब्द प्रचलित है। दरअसल, लोकोक्तियाँ और कहावतें पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होती हैं। लोकोक्तियाँ या कहावतें प्राचीन काल से ही नैतिकता का बोध कराती हैं। इसकी कुछ विशेषताएँ दृष्टव्य हैं-

- यह लोक के ज्ञान और अनुभव का संचित कोश है। ये चिरकाल तक प्रामाणिक और प्रासंगिक सिद्ध होती हैं।
- कहावतें देश-काल की सीमा में नहीं बँधती हैं। ये सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक सत्य हैं।
- देशज उपमानों तथा ठेठ लोकभाषा के शब्दों के प्रयोग से कहावतों के स्वरूप में कसावट आती है। इसके प्रयोग से भाषा ओजपूर्ण बनती है। इसका एक-एक शब्द भावपूर्ण और सारगर्भित होता है।

- किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित होने के बावजूद एकाधिक लोगों को प्रभावित कर सामूहिक स्वीकृति प्राप्त कर लेती है। इससे लोकोक्तियाँ व्यक्तित्वहीन सामूहिक अभिव्यक्ति बन जाती हैं।
- इनमें सामाजिक रूढ़ियों और विद्रूपताओं के उल्लेख के साथ-साथ उस पर तीखा व्यंग्य किया जाता है।

विषयवस्तु पर ग़ौर करते हुए कतिपय विद्वानों ने लोकोक्तियों या कहावतों को नाना वर्गों में बाँटा है। किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से व विषय की विविधता के आधार पर इसकी श्रेणीगत कोटियाँ सोदाहरण प्रस्तुत हैं-

1. *स्थान संबंधी:* (हिं.) राँड, साँड, सीढ़ी, संयासी/ इनसे बचे तो सेवे कासी; (बा.भा.) उद खाते खुद नाइ/ शादी करते लंका जाइ, आदि।
2. *प्रकृति संबंधी:* (हिं.) आम के आम, गुठलियों के भी दाम; (बा.भा.) तुलसी गाछ देखते छोटो/ गुण तार आसे कोतो, तेतुल जेमोन बाँका/ तेमनि से खाट्टा आदि।
3. *प्राणी संबंधी:* (हिं.) हाथी चले बाजार, कुत्ता भौके हज़ार; (बा.भा.) बड़ बड़ हाती घँड़ा बंहाई जाय/ टीटू बले केतना पानी आदि।
4. *सामाजिक कहावतें:* (हिं.) तीन कनौजिये तेरह चूल्हे, एक अनार सौ बीमार; (बा.भा.) बापेर नाम शागपात/ बेटार नाम रबिदास, राजपूत बाड़ीत भूत/ एकटा मुर्गी दिले चाप चुप आदि।
5. *ज्ञान-दर्शन और धार्मिक विश्वासों पर आधारित कहावतें:* (हिं.) अनहोनी होती नहीं, होनी होय सो होय, अब पछताए होत क्या/ जब चिड़ियाँ चुग गयी खेत; (बा.भा.) कार कपाल के खाय/ राजार बेटाउ बने जाय, आदि।
6. *कृषि और ऋतु संबंधी कहावतें:* (हिं.) जेकरे खेत पड़ा नहिं गोबर/ वाही किसान को जान्यो दूबर; (बा.भा.) गरु आहे बुढ़ा हालुवा आहे खड़ा/ हाले धरलेइ घूणे, माटी आहे थोड़ा/ तबू बोले दुटा भाराल भरा आदि।
7. *घरेलू वस्तु तथा स्वास्थ्य संबंधी कहावतें:* (हिं.) एक तो करेला, फिर नीम चढ़ा; (बा.भा.) तुई जे बाड़नी मोई जे सूप/ दुनो सतीनेर एकेई रूप आदि।

8. *विविध:* (हिं.) अपनी डफली अपना राग; (बा.भा.) मानेको ठिकना नाइ/ सुतनेको चटाई, धन जौवन आढ़ाई दिन/ चाम चखे मानुष चिन आदि।

- *मुहावरे*

मुहावरा एक वाक्यांश है जो किसी भी भाषा या उक्ति में प्रयुक्त होकर उसे रमणीय, तेजयुक्त और विलक्षण बनाता है। मुहावरा मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य- परस्पर बातचीत अथवा प्रश्नोत्तरी शैली में वार्तालाप करना है। लोक-व्यवहार में तत्वों तथा कार्य-व्यापार को कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखा जाता है उन्हीं को आधार बनाकर मुहावरों की रचना होती है। इसके जरिये भाषा में माधुर्य और प्रामाणिकता आती है। मुहावरे गद्यात्मक और रहस्यपूर्ण होते हैं तथा भाषा में प्रयुक्त होकर ही इसे अर्थसत्ता की प्राप्ति होती है। इससे इतर मुहावरे स्वतंत्र अर्थ के सूचक नहीं होते। मुहावरों से अचूक व्यंग्यात्मक प्रहार संभव है। डॉ० सत्या गुप्त कहती हैं कि "भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि मुहावरों की उत्पत्ति का रहस्य है- मनुष्य की प्रयत्नलाघव प्रियता। वह छोटे से छोटे शब्दों में अपने को व्यक्त करना चाहता है। मनुष्य स्वभाव से रहस्यात्मक-प्रिय भी है। वह कुछ गोपनीय कहने का आदी भी है। इसी को साधारण शब्दों में न कहकर भिन्न भाषा में प्रयोग करता है। मुहावरे सदैव गद्यात्मक होते हैं तथा बहुत लघु होते हैं।"[29] भाषा में प्रयोग की दृष्टि से मुहावरों की कुछ विशिष्टताएँ इस प्रकार हैं-

- यह किसी भी भाषा अथवा वाक्य का ऐसा अंग होता है जिसके माध्यम से भाषा सजीव, मनोरंजक और चटकीली बनती है।
- विचारों में सरलता, संक्षिप्तता और स्पष्टता हेतु मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग होता है।
- मुहावरे अभिधार्थ में ग्रहणयोग्य नहीं होते हैं। वास्तविक अर्थ की प्रतीति हेतु इसे लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ में ही ग्रहण किया जाता है।
- मुहावरों के रूप में विकृति अवांछनीय है। मुहावरे में शब्दों का हेरफेर अथवा समानार्थी शब्दों का प्रयोग वर्जित है। अर्थात् इसे पूर्ववत रूप में ही शब्दशः प्रयोग करना अनिवार्य होता है। अन्यथा अर्थ-द्योतन त्रुटिपूर्ण हो जाता है।

हिंदी और चाय जनगोष्ठी की बागानिया भाषा में प्रचलित मुहावरों के कुछ उदाहरण उल्लिखित हैं-

- सामाजिक रीति-नीति तथा प्रथाओं से संबंधित मुहावरे, यथा- गाँठ बाँधना (स्मरण रखना), हाथ पीले करना (विवाह करना), पूर्णाहुति देना (समाप्त करना); बा. भा. में – छट लगन छट बिहा (सोच समझकर कदम उठाना) आदि।

- आर्थिक स्थिति को दर्शाने वाले मुहावरे, यथा- पेट काटना (आर्थिक कमी), मालामाल होना (धन की प्राप्ति), कंगाली में आटा गीला (कमी में और कमी होना); बा.भा. में- टानेर दिन (अकाल/ दरिद्रता), तेल आनते निमख फूरा (एक जरूरत के पूरा होते ही एक और कमी हो जाना) आदि।

- धार्मिक अनुष्ठानों तथा पर्व-त्योहारों से संबंधित मुहावरे, जैसे- ईद का चाँद होना (बहुत दिनों बाद मिलना), गोधन कूटना (खूब पिटाई होना); बा.भा. में- टान पड़ले राम बोला (स्वार्थी प्रवृत्ति), तामा तुलसीर माला पिन्धा (आस्तिक) आदि।

- शुभ-अशुभ, शकुन-अपशकुन आदि लोक विश्वास को लेकर प्रचलित मुहावरे, यथा- आँख फड़कना (प्रियतम से मिलन), बिल्ली के भाग से छींका टूटना (अप्रत्याशित लाभ); बा.भा. में- घर उजाड़ हवा (वंश खत्म होना), घरे शनि लागा (अपशकुन होना) आदि।

- ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रचित और प्रचलित मुहावरे, उदाहरण- तुर्क होना (कृतघ्न), अंगूठा दिखाना (अस्वीकार करना); बा.भा. में- बिष दाँत भांगा (शत्रु का दमन) आदि।

- शारीरिक अंग-प्रत्यंग संबंधी मुहावरे, जैसे-नाक में दम करना (परेशान करना), नाक में नकेल डालना (पूर्ण नियंत्रण), आँख का तारा (अत्यंत प्रिय); बा.भा. में- काण खाड़ा करा (सतर्क रहना) आदि भिन्न विषयों को आधार बनाकर लोकमानस में मुहावरे प्रचलित हैं।

- *पहेलियाँ*

लोक सुभाषितों के अंतर्गत सर्वाधिक मनोरंजक, कौतूहलपूर्ण, ज्ञानवर्धक तथा गोपनीयता से परिपूर्ण विधा पहेली है। सामूहिक वार्तालाप, बैठकों आदि में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि मनुष्य अपनी भावनाओं को सभी के समक्ष न रखकर निर्दिष्ट व्यक्ति के संज्ञान में लाना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह अत्यंत

मर्मस्पर्शी व रहस्यात्मक ढंग से लोक व्यवहार के उपमानों को लेकर विचित्रता से अपनी बात प्रस्तुत करता है। ऐसी चमत्कृत और गुप्त भाषा ही पहेली है। अर्थात् पहेली लोक साहित्य की ऐसी वाग्विलास वाली विधा है जिसमें आम जनजीवन के लोक व्यवहार में प्रयुक्त लगभग हर चीज को आधार बनाकर भावनाओं की गुप्त अभिव्यक्ति, बुद्धि परीक्षण, ज्ञानवर्धन व कौतूहल उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रश्नोत्तरी शैली में वार्तालाप होता है। डॉ० सत्येंद्र पहेलियों के स्वरूप को स्पष्टतः व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "पहेलियों में कुछ सार्थक शब्दों के साथ कुछ निरर्थक अद्भुत शब्द होते हैं। ये शब्द निरर्थक होते हुए भी अर्थ-द्योतक की भाँति प्रस्तुत किये गये हैं। ये शब्द किसी वस्तु के भाव मात्र की ओर संकेत करते हैं, इन्हें पहेलियों के बीजगणितीय संकेत कह सकते हैं। पहेलियाँ एक प्रकार से वस्तु को सुलझाने वाली उपमानों से निर्मित शब्द चित्रावली है जिसमें चित्र प्रस्तुत करके यह पूछा जाता है कि यह चित्र किसका है पर इससे यह न समझना चाहिए कि उपमानों के द्वारा यह चित्र पूर्ण होता है। उपमानों द्वारा जो चित्र निर्मित होता है वह अस्पष्ट होता है, उससे अभिप्रेत वस्तु का बहुत अधूरा संकेत मिलता है, पर वह संकेत इतना निश्चित होता है कि यथासंभव उससे किसी अन्य वस्तु का बोध नहीं हो सकता।"[30] पहेलियों की श्रेणी में बुझौवल भी समाहित है। ध्यातव्य है कि इसमें भी पहेलियों की भाँति अनुभवजन्य ज्ञान और गुरूता के प्रदर्शन हेतु प्रश्न-उत्तर होता है। किन्तु बुझौवल में प्रश्न के साथ-साथ समाधान भी सांकेतिक रूप में समाहित रहता है। जबकि पहेलियों में केवल प्रश्न ही वर्णित होता है। प्रश्नकर्ता की यह अपेक्षा होती है कि व्यक्ति आपके बुद्धि-कौशल और व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर जवाब देने पर ही वह विजयी होगा। पहेलियों में प्रयुक्त उपमानों अथवा दैनंदिन जीवन से संबंधित तत्वों के आधार पर इसका विभाजन इस प्रकार है-

1. *खेती संबंधी:* उदाहरण- (हि.) एक बाग में ऐसा हुआ/ आधा बगुला आधा सुआ [उत्तर: मूली], (बा.भा.) एकदाँतियाके चक्षु दान/ पुछड़ी धरके खाड़ा/ अहल्याके धरके खाड़ा/ के बा लागाई मूड़ा [उत्तर: एकदाँतियाके- हल, पुछड़ी- हल को पकड़ने का स्थान, अहल्या- कठोर-बंजर भूमि, मूड़ा- बीज]

2. *घरेलू वस्तु संबंधी:* (हि.) ओर पास घास-फूँस, बीच में तबेलो/ दिन में तो भीरभार, राति में अकेलो [उत्तर: कुंआ], (बा.भा.) आयरे गुड़गुड़िया भाई, तोके निये भात खाई [उत्तर: लोटा]

3. *प्रकृति संबंधी:* (हि.) चाँद सूरज में हुई लड़ाई मंगती आई छुड़ावन [उत्तर: ग्रहण], (बा.भा.) एक थाल सुपाड़ी, गुनते नारे बेपारी [उत्तर: तारा]

4. *पशु-पक्षी संबंधी:* (हि.) एक जानवर ऐसा जिसकी दुम पर पैसा [उत्तर: मोर], (बा.भा.) झिलिक झालाक पंदे बाती, बने जन्घले थाकि रजार नाति [उत्तर: जुगनू]

5. *शरीर संबंधी:* (हि.) बीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया [उत्तर: नाखून], (बा.भा.) एकटा घँड़ा जनम कालेइ बुड़ा [उत्तर: अंगूठा]

6. *विविध विषयक पहेलियाँ:* (हि.) डब्बे पर डब्बा, डब्बे का गाँव/ चलती-फिरती बस्ती है, लोहे के पाँव [उत्तर: रेलगाड़ी], (बा.भा.) हाते बाजना पंदे ढेंकी/ ऋषिउ बठे देवताउ बठे/ सबाइ ताहार फाँकि [उत्तर: नारद मुनि]

- *सूक्तियाँ:* सूक्तियाँ, कहावतों के स्वरूप की होती हैं किन्तु इनमें नैतिकता और मूल्य-बोध पर अधिक बल दिया जाता है। कुछ सूक्तियाँ प्रकृति, ऋतु परिवर्तन, स्वास्थ्य, पौराणिक आख्यानों पर आधारित होती हैं। इनके माध्यम से उचित-अनुचित कार्यों की ओर संकेत किया जाता है। उदहारण: 'अधजल गगरी छलकत जाय, भरी गगरिया चुप्पे जाय', बागानिया भाषा में- 'दुनिया लागे बाजार के समान, जे किनबे किइनले एखन/ समय बितले कुछ नाइ पाबे, जाबे जमके सदन' अर्थात् हमेशा सद्मार्ग पर चलना चाहिए और अच्छा कर्म करना चाहिए क्योंकि मृत्यु के बाद यमलोक में कर्मों का लेखा-जोखा होता है।

- *ढकोसला:* ढकोसला वैसे तो पहेलियों की तरह ही होता है किंतु इनसे न किसी अर्थ का द्योतन होता है और न किसी बौद्धिक विचार का प्रतिपादन। बेतुकी और असंगत बातों से केवल लोक के मनोरंजन को महत्व दिया जाता है। यथा: 'धीरी घोड़ी लाल लगाम ....' आदि।

- *बच्चों के गीत:* इस श्रेणी में शिशु को पालने में सुलाने के लिए माता थपकियों के साथ मनोहर, मधुर गीत गाती हैं। इन गीतों से किसी विशेष अर्थ की अभिव्यंजना नहीं होती है। गीतों में लयात्मकता हेतु सार्थक और निरर्थक शब्दों की पुनरावृत्ति की जाती है। बाल-मनोजगत् कल्पना के सागर में गोते लगाता है। बालकों के लिए चाँद, सूरज, तारे आत्मीय चरित्र होते हैं। इसीलिए इन गीतों में लौकिक

तथा अलौकिक जगत के तत्वों के साथ कल्पना का अद्भुत सामंजस्य दिखायी देता है। ये गीत विस्मय, जिज्ञासा, कौतूहल, भय आदि भावों से ओत-प्रोत होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ गीत खेल-कूद के समय भी बच्चे गाते हैं। उदाहरण के तौर पर 'लोरी' – 'चंदा मामा दूर के ....', 'चांदो मामा आई जा/ बाबू के दूध दिये जा', 'नाइ आसबिरे कुड़िया शियाल/ पिंजारा दिगे थाक', चलने-कूदने के गीत, बच्चों को बुलाने के गीत, कबड्डी, ओका-बोका, आओ मिलो आदि प्रमुख हैं।

संदर्भ सूची-

1. (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पृष्ठ संख्या. 750
2. Encyclopaedia Britanica, vol- ix, पृष्ठ संख्या. 448
3. वही, पृष्ठ संख्या. 448)
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या. 130
5. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग-5. प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या. 1-2
6. सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या.103
7. रामनरेश त्रिपाठी, कविता-कौमुदी, भाग-5, पृष्ठ संख्या. 45
8. श्याम परमार, भारतीय लोकसाहित्य, पृष्ठ संख्या.64
9. कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या. 27
10. सत्या गुप्त, खड़ीबोली का लोकसाहित्य, पृष्ठ संख्या. 174
11. (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पृष्ठ संख्या. 747-748
12. कुंदन लाल उप्रेती, लोकसाहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ संख्या. 155
13. (सं.) राहुल सांकृत्यायन, हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृष्ठ संख्या. 75
14. (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पृष्ठ संख्या. 748
15. (Ed.) Francis James Child, English and Scottish Popular Ballads, Introduction, Page no. xi
16. Robert Groves, The English Ballad: A short critical survey, Page no. 08
17. Encyclopaedia Americana, vol- III, Page. 94
18. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या. 282

19. (सं.) धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पृष्ठ संख्या. 749)

20. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ संख्या. 392

21. लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृष्ठ संख्या. 41

22. वही, पृष्ठ संख्या. 41

23. श्याम परमार, भारतीय लोकसाहित्य, पृष्ठ संख्या. 173

24. (सं.) नगेन्द्र, भारतीय नाट्य साहित्य, पृष्ठ संख्या. 84

25. कुंदन लाल उप्रेती, लोकसाहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ संख्या.192-193

26. श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, पृष्ठ संख्या. 11

27. सत्येंद्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या. 368

28. श्याम परमार, भारतीय लोकसाहित्य, पृष्ठ संख्या. 184

29. सत्या गुप्त, खड़ीबोली का लोकसाहित्य, पृष्ठ संख्या. 276

30. सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ संख्या. 316-317